वीरसेवामन्दिर-ग्रन्थमालाका तृतीयपुष्प

श्रीमत्कविवर पण्डित राजमल्लविरचित

अध्यात्म-कमल-मार्तण्ड

[अनुवादादि-सहित]

सम्पादक और अनुवादक

न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल 'कोठिया'

जैनदर्शनशास्त्री, न्यायतीर्थ

तथा

पण्डित परमानन्द जैन, शास्त्री

प्रस्तावना-लेखक

जुगलकिशोर मुख्तार, 'युगवीर'

प्रधान सम्पादक 'वीरसेवामन्दिर-ग्रन्थमाला'

प्रकाशक

वीर-सेवा-मन्दिर

सरसावा ज़ि० सहारनपुर

प्रथमावृत्ति	आश्विन, वीरनिर्वाण सं० २४७०	मूल्य
१००० प्रति	विक्रम संवत् २००१	१।।) रु०
	सितम्बर १९४४	

ग्रन्थानुक्रम

रामा प्रिंटिंग वर्क्स, चावड़ी बाजार, देहली।

समर्पण

अनेक शिक्षा-संस्थाओंके जन्मदाता, उत्क-
टविद्याप्रेमी, परमोपकारी, प्रशममूर्ति,
सहजवात्सल्यागार, गुणग्राही, जैन-
धर्मप्रसारक, सच्चारित्रनिधि, विद्व-
च्छिरोमणि, न्यायाचार्य पूज्य-
वर परिडत गणेशप्रसादजी
वर्णीके करकमलोंमें—उनके
अनेक उपकारोंके उप-
लक्षमें—अध्यात्मकमल-
मार्तण्डका यह हिंदी
अनुवाद अनुवा-
दकों द्वारा सादर
समर्पित

धन्यवाद

श्रीमान् बाबू राजकृष्ण हरिचन्द्र जी जैन (२३ दरियागंज) देहलीने इस ग्रन्थके प्रकाशनार्थ वीर-सेवा-मन्दिरको पूर्ण आर्थिक सहायता प्रदान की है। इस उदारता और श्रुतसेवाके लिये आपको हार्दिक धन्य-वाद है।

प्रकाशक

प्रकाशकीय वक्तव्य

कितने ही अर्सेसे इस ग्रन्थरत्नको अनुवादके साथ प्रकाशित करनेका विचार चल रहा था; परन्तु अपने विद्वानोंको संस्थाके दूसरे कामोंसे यथेष्ट अवकाश न मिलसकनेके कारण अनुवाद-कार्य बराबर टलता रहा। आखिर दो विद्वानोंने दृढ़ताके साथ इस कार्यको अपने हाथोंमें लिया और उसके फलस्वरूप प्रस्तुत अनुवाद तैयार हुआ, जो तैयार होनेके बाद छपाई आदि की योग्य व्यवस्था न बन सकनेके कारण कुछ समय तक यों ही पड़ा रहा। अन्तको श्रीमान् ला० जुगलकिशोरजी जैन कागजी (मालिक फर्म धूमीमल धर्मदास) चावड़ी बाजार देहलीने संस्थाके पहलेसे आर्डरप्राप्त रुके पड़े हुए प्रकाशन-कार्योंको शीघ्र प्रकाशित करदेनेका आश्वासन दिया और उसके लिये इतनी तत्परता तथा उदारतासे काम लिया कि संस्थाके एक दो विद्वानों-को बराबर समयपर प्रूफरीडिंग आदि कार्योंको सम्पन्न करते हुए स्वकीय देख-रेखमें ग्रन्थोंको छपा लेनेके लिये बड़े आदर-सत्कार तथा कौटुम्बिक प्रेमके साथ अपने पास रक्खा और अभी तक रख रहे हैं। साथ ही उनके लिये प्रेस-आदिकी सब कुछ सुविधा तथा योग्य व्यवस्था करदी। उसीके फल-स्वरूप आज यह ग्रन्थ उन्हींके प्रेसमें मुद्रित होकर पाठकोंके हाथोंमें जा रहा है, कुछ ग्रन्थ इससे पहले प्रकाशित हो चुके हैं और कुछ प्रकाशित होनेवाले हैं। अतः इन सब ग्रन्थोंके सुन्दर प्रकाशनका प्रधान श्रेय उक्त सौजन्यमूर्ति उदारहृदय ला० जुगलकिशोरजी को प्राप्त है, और इसके लिये उन्हें जितना भी धन्यवाद दिया जाय वह सब थोड़ा है। संस्था उनके इस धार्मिक सहयोग तथा उपकारके लिये सदा उनकी ऋणी रहेगी।

यह ग्रन्थ आश्विन मासके अन्तमें ही छपकर तय्यार होगया था, जैसा कि इसके टाइटिल पेजसे प्रकट है, जो उसी समय छप गया था। परन्तु प्रस्तावना उस वक्त तक तय्यार नहीं हो सकी थी। कार्तिकमें कलकत्ताके

'वीरशासन-महोत्सव'का भी कितना ही कार्य सामने आगया था, जिससे जरा भी अवकाश नहीं मिल सका। कलकत्तासे वापिसीमें कुछ यात्राका प्रोग्राम रहा और कुछ दूसरा काम छपने लगा। इसीसे प्रस्तावना देरसे छप सकी, इस विलम्बके कारण पाठकोंको जो प्रतीक्षाजन्य कष्ट उठाना पड़ा उसका हमें खेद है, और इस मजबूरीके लिये हम उनसे क्षमा चाहते हैं।

अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'

प्रस्तावनाकी विषय-सूची

प्रस्तावना

ग्रन्थ और उसकी उपयोगिता—

प्रस्तुत ग्रन्थ 'अध्यात्मकमल-मार्तण्ड' का विषय उसके नामसे ही प्रकट है—यह अध्यात्मरूप कमलोंको विकसित करनेवाला सूर्य है। इसमें आत्माके पूर्ण विकासको सिद्ध करनेके लिये मोक्ष तथा मोक्षमार्गका निरूपण करते हुए, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके विषयभूत जीवादि सप्ततत्त्वों और उनके अन्तर्गत भेद-प्रभेदों तथा द्रव्य-गुण-पर्यायोंके स्वरूप पर अच्छा प्रकाश डाला गया है; और इस तरह अध्यात्म-विषयसे सम्बन्ध रखनेवाले प्रायः सभी प्रमुख प्रमेयोंको थोड़ेमें ही स्पष्ट करनेका सफल प्रयत्न किया गया है। ग्रन्थकी लेखन-शैली बड़ी मार्मिक है, भाषा भी प्राञ्जल, मंजी हुई, जंची-तुली सूत्ररूपिणी तथा प्रासादादि-गुण-विशिष्ट है। और यह सब ग्रन्थकारकी सुअभ्यस्त अनुभूत लेखनीका परिणाम है। ग्रन्थमें चार परिच्छेद और उनमें कुल १०१ पद्य हैं। इतनेसे स्वल्पक्षेत्रमें कितना अधिक प्रमेय (ज्ञेय-विषय) ऊहापोहके साथ भरा गया है और समयसारादि कितने महान् ग्रन्थोंका सार खींचकर रक्खा गया है यह ग्रन्थके अध्ययनसे ही जाना जा सकता है अथवा उस विषयानुक्रमणिकापरसे भी पाठक कुछ अनुभव कर सकते हैं जो ग्रन्थके शुरूमें लगाई गई है, और इससे उन्हें ग्रन्थकारकी अगाध विद्वत्ताके साथ उसकी रचना-चातुरी (निर्माण-कौशल्य) का भी कितना ही पता चल सकता है। ऐसी हालतमें यदि यह कहा जाय कि यहाँ अध्यात्म-समुद्रको कूजेमें बन्द किया गया अथवा सागरको गागरमें भरा गया है, तो शायद अत्युक्ति नहीं होगी। ग्रन्थके अन्तमें इस शास्त्रके सम्यक् अध्ययनका फल यह बतलाया

है कि उससे दर्शनमोह—तत्त्वज्ञान-विषयक भ्रान्ति—दूर होकर नियमसे सद्दृष्टि (सम्यग्दृष्टि) की प्राप्ति होती है। और यह सद्दृष्टि ही सारे आत्म-विकास अथवा मोक्ष-प्राप्तिकी मूल है। अतः इस परसे ग्रन्थकी उपयोगिता और भी स्पष्ट होजाती है।

इस ग्रन्थके आदि और अन्तमें मंगलाचरणादिरूपसे किसी आचार्य-विशेषका कोई स्मरण नहीं किया गया। आदिम और अन्तिम दोनों पद्योंमें 'समयसार-कलश' के रचयिता श्रीअमृतचन्द्रसूरिका अनुसरण करते हुए शुद्धचिद्रूप भावको नमस्कार किया गया है और ग्रन्थका कर्ता वास्तवमें शब्दों तथा अर्थोंको बतलाकर अपनेको उसके कर्तृत्वसे अलग किया है। जैसा कि दोनों ग्रन्थोंके निम्न पद्योंसे प्रकट है :—

"नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे ॥ (आदिम)
"स्वशक्ति-संसूचितवस्तुतत्त्वैर्व्याख्या कृतेयं समयस्य शब्दैः।
स्वरूपगुप्तस्य न किञ्चिदस्ति कर्तव्यमेवामृतचन्द्रसूरेः॥(अन्तिम)
—समयसारकलश

"प्रणम्य भावं विशदं चिदात्मकं समस्ततत्त्वार्थविदं स्वभावतः।
प्रमाणसिद्धं नययुक्तिसंयुतं विमुक्तदोषावरणं समन्ततः॥(आदिम)
"अर्थाश्चाद्यवसानवर्जितनवः सिद्धाः स्वयं मानत-
स्तल्लक्षमप्रतिपादकाश्च शब्दा निष्पन्नरूपाः किल।
भो विज्ञाः परमार्थतः कृतिरियं शब्दार्थयोश्च स्वतो
नव्यं काव्यमिदं कृतं न विदुषा तद्राजमल्लेन हि ॥ (अन्तिम)
— अध्यात्मकमलमार्तण्ड

हाँ, १० वें पद्यमें गौतम (गणधर), वकुग्रीव और अमृतचन्द्रसूरिका नामोल्लेख जरूर किया है और उन्हें जिनवर-कथित जीवाऽजीवादि-

तत्त्वोंके प्ररूपणमें प्रमाणरूपसे स्वीकृत किया है। जिनमें 'वक्रग्रीव' नाम यहाँ कुन्दकुन्दाचार्यका वाचक है; क्योंकि कुछ पट्टावलियोंमें कुन्दकुन्दाचार्यके पाँच नामोंका उल्लेख करते हुए वक्रग्रीव भी एक नाम दिया है। उन्हीं परसे इस नामको अपनाया गया जान पड़ता है, जो ऐतिहासिक दृष्टिसे अभी विवादापन्न चल रहा है।

ग्रन्थकर्ता कविराजमल्ल और उनके दूसरे ग्रन्थ—

इस ग्रन्थके कर्ता कवि राजमल्ल अथवा पण्डित राजमल्ल हैं जो 'कवि' विशेषणसे खास तौर पर विभूषित थे और जो जैन समाजमें एक बहुत बड़े विद्वान, सत्कवि एवं ग्रन्थकार हो गये हैं। इस ग्रन्थमें यद्यपि ग्रन्थ-रचनाका कोई समय नहीं दिया है, फिर भी कविवरके दूसरे दो ग्रन्थोंमें रचनाकाल दिया हुआ है और उससे यह स्पष्ट जाना जाता है कि आप विक्रमकी १७ वीं शताब्दीमें उस समय हुए हैं जब कि अकबर बादशाह भारतका शासन करता था। अकबर बादशाहके सम्बन्धमें कुछ ज्ञातव्य बातोंका उल्लेख भी आपने अपने ग्रन्थोंमें किया है और दूसरी भी कुछ ऐतिहासिक घटनाओंका पता उनसे चलता है, जिन्हें यथावसर आगे प्रकट किया जायगा। इस ग्रन्थकी एक प्राचीन प्रतिका उल्लेख पिटर्सन साहबकी संस्कृत ग्रन्थोंके अनुसन्धान-विषयक ४र्थी रिपोर्टमें नं० १२६५ पर पाया जाता है, जो संवत् १६६३ वैशाख सुदि १३ शनिवारकी लिखी हुई है*, और इससे स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ विक्रम सं० १६६३ से पहले बन चुका था। कितने पहले? यह अभी अनुसन्धानाधीन है।

---

* "इति श्रीमदध्यात्मकमलमार्तण्डाभिधाने शास्त्रे सप्ततत्त्वनवपदार्थप्रतिपादकश्चतुर्थः श्रुतस्कन्धः समाप्तः ॥४॥ ग्रंथाग्रसंख्या २०५

संवत् १६६३ वर्षे वैसाख सुदि १३ शनिवासरे भट्टारक श्री कुमारसेण तदाम्नाये अग्रोतकान्वये गोइलगोत्रे साहु पीथु तद्भार्या सुराही तत्पुत्र पंडित छजमल अध्यात्मकमलकी प्रति लिखापितं। लिखितं पंडित सोहिलु ॥"

कविवरने कुल कितने ग्रन्थोंकी रचना की यह तो किसीको मालूम नहीं; परन्तु अभी तक आपकी मौलिक कृतियोंके रूपमें प्रस्तुत ग्रन्थके अलावा चार ग्रन्थोंका ही और पता चला है, जिनके नाम हैं—१ जम्बूस्वामिचरित, २ लाटीसंहिता, ३ छन्दोविद्या (पिङ्गल), और ४ पञ्चाध्यायी। इनमेंसे छन्दोविद्याको छोड़कर शेष सब ग्रन्थ प्रकाशित भी होचुके हैं।

एक छठा ग्रन्थ आपका और भी बतलाया जाता है और वह है 'समयसारकलशकी हिन्दी टीका' जिसे ब्र० शीतलप्रसादजीने आजसे कोई १४ वर्ष पूर्व सूरतसे इस रूपमें प्रकाशित कराया है कि—पहले अमृतचन्द्र आचार्यका संस्कृत कलश, तदनन्तर 'खंडान्वय-सहित अर्थ' के रूपमें यह टीका, इसके बाद अपना 'भावार्थ' और फिर पं० बनारसीदासजीके समयसार नाटक' के हिन्दी पद्य। इस टीकाकी भाषा पुरानी जयपुरी (ढुंढारी) अथवा मारवाड़ी-गुजराती जैसी हिन्दी है, टीकाके आरम्भ तथा अन्तमें कोई मंगलात्मक अथवा समाप्ति-सूचक हिन्दी पद्य नहीं है, जिसकी पिंगलमें आये हुए हिन्दी पद्योंके साथ तुलना की जाती, और न टीकाकी भाषाके अनुरूप ऐसी कोई सन्धि ही देखनेमें आती है, जिससे टीकाकारके नामादिकका कुछ विशेष परिचय मिलता। कविवर प० बनारसीदासजीने अपने हिन्दी समयसार नाटकमें अमृतचन्द्रीय संस्कृत नाटककी एक बालबोध सुगम टीकाका उल्लेख किया है और उसे पांडे (पंडित) राजमल्लजी कृत लिखा है। साथ ही, पांडे राजमल्लजीको समयसार नाटकका मर्मी बतलाते हुए, यह भी प्रकट किया है कि उनकी इस टीका परसे आगरा नगरमें बोध-वचनिका फैली, काल पाकर अध्यात्म-शैली अथवा मंडली जुड़ी और उस मण्डलीके पं० रूपचन्दजी आदि पांच प्रमुख विद्वानोंकी प्रेरणाको पाकर उन्होंने उक्त राजमल्लीय टीकाके आधारपर अपनी यह हिन्दी छन्दोबद्ध रचना की है और उसे आश्विन सुदि १३ सं० १६९३ को रविवारके दिन पूरा किया है। इस कथनके कुछ पद्य इस प्रकार हैं:—

"पांडे राजमल्ल जिनधर्मी, समयसार नाटकके मर्मी।
तिन्हें गरंथकी टीका कीनी, बालबोध सुगम कर दीनी ॥२३॥
इहविधि बोध-वचनिका फैली, समै पाइ अध्यातम शैली।
प्रगटी जगमाहीं जिनवानी, घरघर नाटक-कथा बखानी ॥२४॥
नगर आगरे मांहि विख्याता, कारण पाइ भये बहु ज्ञाता।
पंच पुरुष अति निपुन प्रवीने, निसदिन ज्ञानकथा-रसभीने ॥२५॥

× × × ×

नाटक समयसार हित जीका, सुगमरूप राजमल टीका।
कवितबद्ध रचना जो होई, भाखा ग्रन्थ पढ़ै सब कोई ॥३५॥
तब बनारसी मनमें आनी, कीजै तो प्रगटै जिनवानी।
पंच पुरुषकी आज्ञा लीनी, कवितबंधकी रचना कीनी ॥३६॥
सोरहसै तिराणवे बीते, आसुमास सितपच्छ वितीते।
तेरसी रविवार प्रवीना, ता दिन ग्रंथ समापत कीना ॥३७॥"

टीकाको देखनेसे मालूम होता है कि वह अच्छी मार्मिक है, साथ ही सरल तथा सुबोध भी है। और हमारे प्रस्तुत ग्रन्थकार एक बहुत बड़े अनुभवी तथा अध्यात्म-विषयके मार्मिक विद्वान हुए हैं; जैसाकि उनके इस अध्यात्मकमलमार्तण्डसे ही स्पष्ट है, जिसमें समयसारके कितनेही कलशोंका अनुसरण उनके मर्मको अच्छी तरहसे व्यक्त करते हुए किया गया है, जिसका एक नमूना तृतीय कलशको लक्ष्यमें रखकर लिखा गया ग्रन्थका चौथा पद्य है (देखो पृष्ठ ३) और दूसरा नमूना ऊपर दी हुई आदि-अन्तके पद्योंकी तुलना है। टीकामें उस प्रकारकी विद्वत्ता एवं तर्क-शैलीकी झलक जरूर है, और इसलिये बहुत संभव है कि ये ही कवि राजमल्लजी इस टीकाके भी कर्ता हों; परन्तु टीकाकी भाषा कुछ सन्देह जरूर उत्पन्न करती है—छंदोविद्याके हिन्दी पद्योंकी भाषाके साथ उसका पूरा मेल नहीं मिलता। हो

सकता है कि यह कविवरकी पहलेकी रचना हो तथा गद्य और पद्यकी उनकी भाषामें भी अन्तर हो। कुछ भी हो, अपनी भाषा परसे यह आगराकी बनी हुई तो मालूम नहीं होती—मारवाड़ आदिकी तरफके किसी स्थानकी बनी हुई जान पड़ती है। कब बनी? यह कुछ निश्चितरूपसे नहीं कहा जासकता। यदि ये ही कवि राजमल्लजी इसके कर्ता हों तो यह होसकता है कि इसकी रचना जम्बूस्वामिचरितकी रचना गतसंवत् १६३२से पहले हुई हो; क्योंकि जम्बूस्वामिचरित पर उन विचारों एवं संस्कारोंकी छाया पड़ी हुई जान पड़ती है जिनका पूर्वमें समयसारकी टीका लिखते समय उत्पन्न होना स्वाभाविक है और जिसका नमूना आगे उक्त चरितके परिचयके अवसर पर दिया जायगा। यह टीका किसके लिये अथवा किनको लक्ष्य करके लिखी गई, यह भी निश्चितरूपसे नहीं कहा जासकता। क्योंकि टीकामें ऐसा कोई उल्लेख नहीं है, जब कि कविवरके दूसरे ग्रन्थोंमें इस प्रकारका उल्लेख देखा जाता है कि किस ग्रन्थका निर्माण किसके निमित्त अथवा किसकी प्रेरणाको पाकर हुआ है, और जिसे आगे यथावसर प्रकट किया जायगा। यहां इस टीकाका प्रारम्भिक भाग जो **'नमः समयसाराय'** इस मंगल कलशके अनन्तर उसकी व्याख्याके आद्य अंशके रूपमें है नीचे दिया जाता है, जिससे पाठकोंको टीकाकी भाषा और उसकी लेखन-पद्धतिका कुछ अनुभव प्राप्त हो सके:—

"**टीका—भावाय नमः** भाव शब्दैं कहिजै पदार्थ। पदार्थ संज्ञा छै सत्वस्वरूपकहुं। तिहतें यहु अर्थु ठहरायौ जु कोई सास्वतो वस्तुरूप तीहैं म्हांको नमस्कारु। सो वस्तुरूप किसौ छै। **चित्स्वभावाय** चित् कहिजै चेतना सोई छै स्वभावाय कहतां स्वभाव सर्वस्व जिहिकौं तिहिकौं म्हांको नमस्कारु। इहिं विशेषण कहतां दोइ समाधान हौंहि छै। एक तो भाव कहतां पदार्थ, जे पदार्थ केई चेतन छै, केई अचेतन छै, तिहिं मांहै चेतन पदार्थ नमस्कारु करिवा योग्य छै, इसौ अर्थु ऊपजै छै। दूजौ समाधान इसौ जु यद्यपि वस्तुको गुण वस्तु ही माहैं गर्भित छै, वस्तु गुण एक ही सत्व छै

तथापि भेदु उपजाइ कहवा जोग्य छै। विशेषण कहिवा पाषैं† वस्तुको ज्ञानु उपजै नहीं। **पुनः किं विशिष्टाय भावाय** औरु किसौ छै भाव। **समय-साराय** समय कहतां यद्यपि समय शब्दका बहुत अर्थ छै तथापि एनैं अवसर समय शब्दैं समान्यपनैं जीवादि सकल पदार्थ जानिवा। तिहिं मांहि जु कोई साराय कहतां सार छै। सार कहतां उपादेय छै जीव वस्तु, तिहिं कौं म्हांको नमस्कारु। इहिं विशेषणको यहु भाव छै—सार पनो जानि चेतना पदार्थ कौं नमस्कारु प्रमाण राख्यो। असारपनौं जानि अचेतन पदार्थकौं नमस्कारु निषेध्यौ। आगे कोई चितर्व करसी जु सब ही पदार्थ आपना आपना गुणपर्याय विराजमान छै, स्वाधीन छै, कोई किस ही कौ आधीन नहीं, जीव पदार्थकौं सारपनौं क्यों घटै छै। तिहिको समाधान करिवाकहुं दोइ विशेषण कह्या।"‡

पंचाध्यायी और लाटीसंहिता—

पञ्चाध्यायीका लाटीसंहिताके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है, अतः यहाँ दोनोंका एक साथ परिचय कराया जाता है।

कविवरकी कृतियोंमें जिस पंचाध्यायी ग्रन्थको सर्वप्रधान स्थान प्राप्त है और जिसे स्वयं ग्रन्थकारने ग्रन्थ-प्रतिज्ञामें **ग्रन्थराज** लिखा है वह आजसे कोई ३८–३९ वर्ष पहले प्रायः अप्रसिद्ध था—कोल्हापुर, अजमेर आदिके कुछ थोड़ेसे ही शास्त्रभण्डारोंमें पाया जाता था और बहुत ही कम विद्वान् उसके अस्तित्वादिसे परिचित थे। शक संवत् १८२८ (ई० सन् १९०६) में अकलूज (शोलापुर) निवासी गांधी नाथारंगजीने इसे कोल्हापुरके 'जैनेन्द्र मुद्रणालय' में छपाकर बिना ग्रन्थकर्ताके नाम और बिना किसी प्रस्तावनाके ही प्रकाशित किया। तभीसे यह ग्रन्थ विद्वानोंके

---

† विनाः। ‡ सूरतकी उक्त मुद्रित प्रतिमें भाषादिका कुछ परिवर्तन देखनेमें आया, अतः यह अंश 'नयामन्दिर' देहलीकी सं० १७५५ द्वितीय ज्येष्ठ वदि ४ की लिखी हुई प्रतिपरसे उद्धृत किया गया है।

विशेष परिचयमें आया, विद्वद्वर्य पं० गोपालदासजीने इसे अपने शिष्यों को पढ़ाया, उनके एक शिष्य पं० मक्खनलालजीने इसपर भाषाटीका लिखकर उसे वीरनिर्वाण सं० २४४४ (सन् १६१८) में प्रकट किया, और इस तरह पर समाजमें इसका प्रचार उत्तरोत्तर बढ़ा। अपने नाम परसे और ग्रन्थके आदिम मङ्गलपद्यमें प्रयुक्त हुए 'पञ्चाध्यायावयवं' इस विशेषणपद परसे भी यह ग्रन्थ पाँच अध्यायोंका समुदाय जान पड़ता है। परन्तु इस वक्त जितना उपलब्ध है उसे अधिकसे अधिक डेढ़ अध्यायके करीब कह सकते हैं, और यह भी हो सकता है कि वह एक अध्याय भी पूरा न हो। क्योंकि ग्रन्थमें अध्याय-विभागको लिए हुए कोई सन्धि नहीं है और न पाँचों अध्यायोंके नामोंको ही कहीं सूचित किया है। शुरूमें 'द्रव्यसामान्यनिरूपण' नामका एक प्रकरण प्रायः ७७० श्लोकोंमें समाप्त किया गया है, उसे यदि एक अध्याय माना जाय तो यह ग्रन्थ डेढ़ अध्यायके करीब है और यदि अध्यायका एक अंश (प्रकरण) माना जाय तो इसे एक अध्यायसे भी कम समझना चाहिए। बहुत करके वह प्रकरण अध्यायका एक अंश ही जान पड़ता है, दूसरा 'द्रव्यविशेषनिरूपण' नामका अंश उसके आगे प्रारंभ किया गया है, जो ११४५ श्लोकोंके करीब होनेपर भी अधूरा है। परन्तु वह आद्य प्रकरण एक अंश हो या पूरा अध्याय हो, कुछ भी सही, इसमें सन्देह नहीं कि प्रकृत ग्रन्थ अधूरा है—उसमें पाँच अध्याय नहीं हैं—और इसका कारण ग्रन्थकारका उसे पूरा न कर सकना ही जान पड़ता है। मालूम होता है ग्रन्थकार महोदय इसे लिखते हुए अकालमें ही कालके गालमें चले गये हैं, उनके हाथों इस ग्रन्थको पूरा होनेका अवसर ही प्राप्त नहीं होसका, और इसीसे यह ग्रन्थ अपनी वर्तमान स्थितिमें पाया जाता है—उसपर ग्रन्थकारका नाम तक भी उपलब्ध नहीं होता।

ग्रन्थके प्रकाशन-समयसे ही जनता इस बातके जाननेके लिए बराबर उत्कंठित रही कि यह ग्रन्थ कौनसे आचार्य अथवा विद्वान्का बनाया

हुआ है और कब बना है। परन्तु विद्वान् लोग १८-१९ वर्ष तक भी इस विषयका कोई ठीक निर्णय नहीं कर सके और इसलिए जनता बराबर अंधेरेमें ही चलती रही। ग्रन्थकी प्रौढ़ता, युक्तिवादिता और विषय-प्रतिपादन-कुशलताको देखते हुए कुछ विद्वानोंका इस विषयमें तब ऐसा खयाल होगया था कि यह ग्रन्थ शायद पुरुषार्थसिद्धय्युपाय आदि ग्रंथोंके तथा समयसारादिकी टीकाओंके कर्त्ता श्रीअमृतचन्द्राचार्यका बनाया हुआ हो। पं० मक्खनलालजी शास्त्रीने तो इसपर अपना पूरा विश्वास ही प्रकट कर दिया था और पंचाध्यायी-भाषाटीकाकी अपनी भूमिकामें लिख दिया था कि "पंचाध्यायीके कर्त्ता अनेकान्त-प्रधानी आचार्यवर्य अमृतचन्द्रसूरि ही हैं।" परन्तु इसके समर्थनमें मात्र अनेकान्तशैलीकी प्रधानता और कुछ विषय तथा शब्दोंकी समानताकी जो बात कही गई उससे कुछ भी सन्तोष नहीं होता था; क्योंकि मूलग्रन्थमें कुछ बातें ऐसी पाई जाती हैं जो इस प्रकारकी कल्पनाके विरुद्ध पड़ती हैं। दूसरे, उत्तरवर्ती ग्रन्थकारोंकी कृतियोंमें उस प्रकारकी साधारण समानताओंका होना कोई अस्वाभाविक भी नहीं है। कवि राजमल्लने तो अपने अध्यात्मकमलमार्तण्ड (पद्य नं० १०) में अमृतचन्द्रसूरिके तत्त्वकथनका अभिनन्दन किया है और उनका अनुसरण करते हुए कितने ही पद्य उनके समयसार-कलशोंके अनुरूप तक रक्खे हैं। अस्तु।

पं० मक्खनलालजीकी टीकाके प्रकट होनेसे कोई ६ वर्ष बाद अर्थात् आजसे कोई २० वर्ष पहले सन् १९२४ में मुझे दिल्ली पंचायती मन्दिरके शास्त्र-भण्डारसे, बा० पन्नालालजी अग्रवालकी कृपा-द्वारा, 'लाटीसंहिता' नामक एक अश्रुतपूर्व ग्रन्थरत्नकी प्राप्ति हुई, जो १६०० के करीब श्लोकसंख्याको लिये हुए श्रावकाचार-विषय पर कवि राजमल्लजीकी खास कृति है और जिसका पंचाध्यायीके साथ तुलनात्मक अध्ययन करने पर मुझे यह बिलकुल स्पष्ट होगया कि पञ्चाध्यायी भी कवि राजमल्लजीकी ही कृति है। इस खोजको करके मुझे उस समय बड़ी प्रसन्नता हुई—

क्योंकि मैं भी उससे पहले ग्रन्थके कर्तृत्व-विषयक अन्धकारमें भटक रहा था। और इसलिये मैंने **'कविराजमल्ल और पंचाध्यायी'** नामक लेखमें अपनी खोजको निबद्ध करके उसे 'वीर' पत्र (वर्ष ३ अंक १२-१३)के द्वारा विद्वानोंके सामने रक्खा। सहृदय एवं विचारशील विद्वानोंने उसका अभिनन्दन किया—उसे अपनाया, और तभीसे विद्वज्जनता यह समझने लगी कि पंचाध्यायी कविराजमल्लजीकी कृति है। आज तक उस खोजपूर्ण लेखका कहींसे भी कोई प्रतिवाद अथवा विरोध नहीं हुआ। प्रत्युत इसके, पं० नाथूरामजी प्रेमीने माणिकचन्द्र-ग्रन्थमालामें लाटीसंहिताको प्रकाशित करते हुए उसके साथ उसे भी उद्धृत किया, और जम्बूस्वामिचरितके प्रकाशनावसरपर उसकी भूमिकामें श्री जगदीशचन्द्रजी शास्त्री एम० ए० ने साफ तौर पर यह घोषणा की कि—

"आजसे अनेक वर्ष पूर्व जब स्व० पं० गोपालदासजी वरैयाकी कृपासे जैन विद्वानोंमें पंचाध्यायी नामक ग्रंथके पटन-पाठनका प्रचार हुआ, उस समय लोगोंकी यह मान्यता (धारणा?)होगई थी कि यह ग्रन्थ अमृतचन्द्र-सूरिकी रचना है। परन्तु लाटीसंहिताके प्रकाशमें आनेपर यह धारणा सर्वथा निर्मूल सिद्ध हुई। और अब तो यह और भी निश्चयपूर्वक कहा जासकता है कि पंचाध्यायी, लाटीसंहिता, जम्बूस्वामिचरित और अध्यात्मकमल-मार्त्तण्ड ये चारों ही कृतियाँ एक ही विद्वान् पं० राजमल्लके हाथकी हैं।"

परन्तु यह देखकर बड़ा खेद होता है कि मेरे उक्त लेखके कोई आठ वर्ष बाद सन् १९३२ में जब पं० देवकीनन्दनजीने पंचाध्यायीकी अपनी टीकाको कारंजा-आश्रमसे प्रकाशित कराया तब उन्होंने यह जानते-मानते और पत्रों द्वारा मेरी उस कर्तृत्व-विषयक खोजको स्वीकार करते हुए तथा यह आश्वासन देते हुए भी कि उसके अनुरूप ही ग्रंथकर्ताका नाम टीकाके साथ प्रकाशित किया जायगा, अपनी उस टीकाको बिना ग्रन्थ-कर्ताके नामके ही प्रकाशित कर दिया! एकाएक किसीके कहने-सुननेका उनपर कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा जान पड़ता है कि उन्होंने न तो मेरे उक्त

लेखके अनुकूल या प्रतिकूल कुछ लिखनेकी हिम्मत की, न अपने सहपाठी पं० मक्खनलालजीके मतको ही अपनाया और न ग्रन्थकर्ताके नामादि-विषयमें अपनी ओरसे दो शब्दोंका लिखना अथवा समाजमें चली हुई सामयिक चर्चाका उल्लेख करना ही अपना कोई कर्तव्य समझा, और इसलिये इतने बड़े ग्रन्थकी मात्र एक पेजकी ऐसी भूमिका लिखकर ही ग्रन्थको प्रकाशित कर दिया जिसमें ग्रन्थकर्ताके नामादिक-परिचय-विषयको स्पर्श तक नहीं किया गया !! और इस तरह अपने पाठकोंको ग्रन्थकर्ताके विषयमें घोर अन्धकारमें ही रखना उचित समझा है !!! यहाँ पर मैं आपके एक पत्र ता० ३ जनवरी सन् १९३१ की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत कर देना उचित समझता हूँ जो आपने मुझे ४००श्लोकोंकी टीका छपजानेपर लिखा था और जिसकी ये पंक्तियाँ प्रकृत विषयसे खास सम्बन्ध रखती हैं :—

"४०० श्लोक छप चुके हैं पूर्वार्ध पूर्ण होते ही श्रीमानकी सेवामें भेजनेका विचार है।

मेरा मत निश्चय होगया है कि ग्रन्थ श्रीविद्वद्वर्य राजमल्लजी कृत ही है—सो मैं भूमिकामें लिखनेवाला हूँ।"

इन पंक्तियोंमें दिये हुए निश्चय और आश्वासन परसे पाठक मेरे उक्त खेद-व्यक्तीकरणके औचित्यको भले प्रकार समझ सकते हैं।

पञ्चाध्यायीकी कर्तृत्व-विषयक खोज—

अब पाठक यह जाननेके लिये जरूर उत्सुक होंगे कि वह युक्तिवाद अथवा खोज क्या है जिसके आधार पर पञ्चाध्यायीको कविराजमल्लकृत सिद्ध किया गया है, और उसका जान लेना इसलिये भी आवश्यक है कि अब तक पंचाध्यायीके जितने भी संस्करण प्रकाशित हुए हैं वे सब ग्रन्थकर्ताके नामसे शून्य हैं और इसलिये उनपरसे पाठकोंको ग्रन्थके कर्तृत्व विषयमें कुछ भ्रम होसकता है। अतः उसको यहाँपर संक्षेपमें ही प्रकट किया जाता है, और इससे पाठकोंको दोनों ग्रन्थों (पंचाध्यायी और

लाटीसंहिता) का यथेष्ट परिचय भी मिल जायगा, जिसको देना भी यहाँ इष्ट है :—

(१) पंचाध्यायीमें, सम्यक्त्वके प्रशम-संवेगादि चार गुणोंका कथन करते हुए, नीचे लिखी एक गाथा ग्रन्थकार-द्वारा उद्धृत पाई जाती है:—

संवेओ णिव्वेओ णिंदण गरुहा य उवसमो भत्ती।
वच्छल्लं अणुकंपा अट्ठगुणा हुंति सम्मत्ते ॥

यह गाथा, जिसमें सम्यकत्वके संवेगादिक अष्टगुणोंका उल्लेख है, वसुनन्दिश्रावकाचारके सम्यक्त्व प्रकरणकी गाथा है—वहाँ मूलरूपसे नं० ४९ पर दर्ज है—और इस श्रावकाचारके कर्त्ता आचार्य वसुनन्दी विक्रमकी १२वीं शताब्दीके अन्तिम भागमें हुए हैं। ऐसी हालतमें यह स्पष्ट है कि पंचाध्यायी विक्रमकी १२वीं शताब्दीसे बादकी बनी हुई है, और इसलिए वह उन अमृतचन्द्राचार्यकी कृति नहीं हो सकती जो कि वसुनन्दीसे बहुत पहले हो गये हैं। अमृतचन्द्राचार्यके 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' ग्रन्थका तो 'येनांशेन सुदृष्टिः' नामका एक पद्य भी इस ग्रन्थमें उद्धृत है, जिसे ग्रन्थकारने अपने कथनकी प्रमाणतामें 'उक्तं च' रूपसे दिया है और इससे भी यह बात और ज्यादा पुष्ट होती है कि प्रकृत ग्रन्थ अमृतचन्द्राचार्यका बनाया हुआ नहीं है।

यहाँ पर मैं इतना और भी प्रकट कर देना चाहता हूँ कि पं० मक्खनलालजी शास्त्रीने अपनी भाषा टीकामें उक्त गाथाको 'क्षेपक' बतलाया है और उसके लिये कोई हेतु या प्रमाण नहीं दिया, सिर्फ फुटनोटमें इतना ही लिख दिया है कि "यह गाथा पंचाध्यायीमें क्षेपक रूपसे आई है।" इस फुटनोटको देखकर बड़ा ही खेद होता है और समझमें नहीं आता कि उनके इस लिखनेका क्या रहस्य है !! यह गाथा पंचाध्यायीमें किसी तरह पर भी क्षेपक—बादको मिलाई हुई—नहीं हो सकती; क्योंकि ग्रन्थकारने अगले ही पद्यमें उसके उद्धरणको स्वयं स्वीकार तथा घोषित किया है, और वह पद्य इस प्रकार है:—

उक्तगाथार्थसूत्रेऽपि प्रशमादि-चतुष्टयम ।
नातिरिक्तं यतोऽस्त्यत्र लक्षणस्योपलक्षणम् ॥४६७॥

इस पद्यपरसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि ग्रन्थकारने उक्त गाथाको स्वयं उद्धृत करके उसे अपने ग्रन्थका एक अंग बनाया है और उसके विषयका स्पष्टीकरण करने अथवा अपने कथनके साथ उसके कथनका सामंजस्य स्थापित करनेका यहाँसे उपक्रम किया है—अगले कई पद्योंमें इसी विषयकी चर्चा की गई है। फिर उक्त गाथाको क्षेपक कैसे कहा जा सकता है? नहीं कहा जा सकता।

(२) पंचाध्यायीमें ग्रन्थकर्ताने अपनेको जगह जगह 'कवि' लिखा है—'कवि' रूपसे ही अपना नामोल्लेख किया है, जैसाकि आगे चलकर (नं० ५ से) पाठकोंको मालूम होगा, और अमृतचन्द्रसूरि अपने ग्रन्थोंमें कहीं भी अपनेको 'कवि' नहीं लिखते हैं। इससे भी यह जाना जाता है कि पंचाध्यायी अमृतचन्द्राचार्यकी कृति नहीं है। अस्तु।

यह तो हुआ अमृतचन्द्राचार्यके द्वारा प्रकृत ग्रन्थके न रचे जाने आदि-विषयक सामान्य विचार, अब ग्रन्थके वास्तविक कर्त्ता और उसके निर्माण-समय-सम्बन्धी विशेष विचारको लीजिए।

(३) पंचाध्यायीकी जब लाटीसंहिताके साथ तुलनात्मक-दृष्टिसे आन्तरिक जाँच (परीक्षा)की जाती है तो यह मालूम होता है कि ये दोनों ग्रन्थ एक ही विद्वानकी रचनाएं हैं। दोनोंकी कथनशैली, लेखन-प्रणाली अथवा रचना-पद्धति एक-जैसी है। ऊहापोहका ढंग, पदविन्यास और साहित्य भी दोनोंका समान है। पंचाध्यायीमें जिस प्रकार **किञ्च, ननु, अथ, अपि, अर्थात्, अयमर्थः, अयं भावः, एवं, नैवं, मैवं, नोह्यं, न चाशंक्यं, चेन्न, नो चेत्, यतः,ततः, अत्र,तत्र,तद्यथा** इत्यादि शब्दोंके प्रचुर प्रयोग के साथ विषयका प्रतिपादन किया गया है, उसी तरह वह लाटीसंहितामें भी पाया जाता है। संक्षेपमें, दोनों एक ही लेखनी, एक ही टाइप और

एक ही टकसालके जान पड़ते हैं। इसके सिवाय, दोनों ग्रन्थोंमें सैंकड़ों पद्य भी प्रायः एक ही पाये जाते हैं और उनका खुलासा इस प्रकार है:—

(क) लाटीसंहिताके तीसरे सर्गमें, सम्यग्दृष्टिके स्वरूपका निरूपण करते हुए, 'ननूल्लेखः किमेतावान्' इत्यादि पद्य नं० ३४ (मुद्रितमें २७) से 'तद्यथा सुखदुःखादि' इस पद्य नं० ६० (मुद्रितमें ५४) तक जो २७ पद्य दिये हैं वे वे ही हैं जो पंचाध्यायी टीकाके उत्तरार्धमें नं० ३७२ से ३९९ तक और मूल प्रतिमें नं० ३७४ से ४०१ तक दर्ज हैं। इसी तरह ६१ (मुद्रितमें ५५) वें नम्बरसे १२६ (मुद्रितमें ११६) वें नं० तकके ६६ पद्य भी प्रायः वे ही हैं जो सटीक प्रतिमें ४०१ से ४७६ तक और मूल प्रतिमें ४१२ से ४७९ तक पाये जाते हैं। हाँ, 'अथानुरागशब्दस्य' नामका पद्य नं० ४३५ (४३७) पंचाध्यायी में अधिक है। हो सकता है कि वह लेखकोंसे छूट गया हो, लाटीसंहिताके निर्माणसमय उसकी रचना ही न हुई हो या ग्रन्थकारने उसे लाटीसंहितामें देनेकी जरूरत ही न समझी हो। इनके सिवाय, इसी सर्गमें, नं० १६१ (मुद्रितमें १५२) से १८२ (मुद्रितमें १७३) तकके २२ पद्य और भी हैं जो पंचाध्यायी (उत्तरार्द्ध) के ७२१ (७२५) से ७४२ (७४६) नम्बर तकके पद्योंके साथ एकता रखते हैं।

(ख) लाटीसंहिताका चौथा सर्ग, जो आशीर्वादके बाद 'ननु सुदर्शनस्यैतत्'पद्यसे प्रारम्भ होकर 'उक्तः प्रभावनांगोऽपि' पद्य पर समाप्त होता है, ३२३ पद्योंके करीबका है। इनमेंसे नीचे लिखे दो पद्योंको छोड़कर शेष सभी पद्य पंचाध्यायीके उत्तरार्ध (द्वितीय प्रकरण)में नं० ४७७ (४८०) से ७२० (७२४) और ७४३ (७४७) से ८२१ (८२५) तक प्रायः ज्योंके त्यों पाये जाते हैं—

येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२६८ (२७५)

येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२६९ (२७५)

ये दोनों पद्य 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' ग्रन्थके पद्य हैं और 'येनांशेन सुदृष्टिः' नामके उस पद्यके बाद 'उक्तं च' रूपसे ही उद्धृत किये गये हैं जो पंचाध्यायीमें भी नं० ७७४ (७७८) पर उद्धृत है। मालूम होता है ये दोनों पद्य पंचाध्यायीकी प्रतियोंमें छूट गये हैं। अन्यथा, प्रकरणको देखते हुए इनका भी उक्त पद्यके साथमें उद्धृत किया जाना उचित था। इसी तरह पंचाध्यायीमें भी 'यथा प्रज्वलितो वह्निः' और 'यतः सिद्धं प्रमाणाद्वै' ये दो पद्य (नं० ५२८, ५५७) इन पद्योंके सिलसिलेमें बढ़े हुए हैं। सम्भव है कि वे लाटीसंहिताकी प्रतियोंमें छूट गये हों।

इस तरह पर ४३८ पद्य दोनों ग्रन्थोंमें समान हैं—अथवा यों कहना चाहिए कि लाटीसंहिताका एक चौथाईसे भी अधिक भाग पंचाध्यायीके साथ एक-वाक्यता रखता है। ये सब पद्य दूसरे पद्योंके मध्यमें जिस स्थितिको लिये हुए हैं उसपरसे यह नहीं कहा जासकता कि वे 'क्षेपक' हैं या एक ग्रन्थकारने दूसरे ग्रन्थकारकी कृतिपरसे उन्हें चुराकर या उठाकर और अपने बनाकर रक्खा है। लाटीसंहिताके कर्त्ताने तो अपनी रचनाको 'अनुच्छिष्ट' और 'नवीन' सूचित भी किया है* और उससे यह पाया जाता है कि लाटीसंहितामें थोड़ेसे 'उक्तंच' पद्योंको छोड़कर

* यथा :—

सत्यं धर्मरसायनो यदि तदा मां शिक्षयोपक्रमात्।
सारोद्धारमिवाप्यनुग्रहतया स्वल्पाक्षरं सारवत् ॥
आर्षं चापि मृदूक्तिभिः स्फुटमनुच्छिष्टं नवीनं महन्-
निर्माणं परिधेहि संघनृपतिर्भूयोप्यवादीदिति ॥७६॥
श्रुत्वेत्यादिवचः शतं मृदुरुचिर्निर्दिष्टनामा कविः।
नेतुं यावदमोघतामभिमतं सोपक्रमायोद्यतः ॥

शेष पद्य किसी दूसरे ग्रन्थकारकी कृतिपरसे नकल नहीं किये गये हैं। ऐसी हालतमें पद्योंकी यह समानता भी दोनों ग्रन्थोंके एक कर्तृत्वको घोषित करती है। साथ ही, लाटीसंहिताके निर्माणकी प्रथमताको भी कुछ बतलाती है।

इन समान पद्योंमेंसे कोई-कोई पद्य कहीं कुछ पाठ-भेदको भी लिये हुए हैं और उससे अधिकांशमें लेखकोंकी लीलाका अनुभव होनेके साथ-साथ पंचाध्यायीके कितने ही पद्योंका संशोधन भी होजाता है, जिनकी अशुद्धियोंको तीन प्रतियों परसे सुधारनेका यत्न करने पर भी पं० मक्खनलालजी शास्त्री सुधार नहीं सके और इसलिए उन्हें गलतरूपमें ही उनकी टीका प्रस्तुत करनी पड़ी। इन पद्योंमेंसे कुछ पद्य नमूनेके तौरपर, लाटीसंहितामें दिये हुए पाठभेदको कोष्टकमें दिखलाते हुए, नीचे दिये जाते हैं :—

द्रव्यतः क्षेत्रतश्चापि कालादपि च भावतः।
नात्राणमंशतोऽप्यत्र कुतस्तद्धिय(द्धीमे)हात्मनः ॥५३५॥

मार्गो(र्गं) मोक्षस्य चारित्रं तत्सद्भक्ति(सद्दृग्ज्ञप्ति)पुरःसरम्।
साधयत्यात्मसिद्ध्यर्थं साधुरन्वर्थसंज्ञकः ॥६६७॥

मद्यमांसमधुत्यागी त्यक्तोदुम्बर-पंचकः।
नामतः श्रावकः क्षान्तो (ख्यातो) नान्यथापि तथा गृही ॥७२६॥

शेषेभ्यः क्षुत्पिपासादि-पीडितेभ्योऽशुभोदयात्।
दीनेभ्यो दया(ऽभय)दानादि दातव्यं करुणार्णवैः ॥७३१॥

नित्ये नैमित्तिके चैवं(त्य)जिनबिम्बमहोत्सवे।
शैथिल्यं नैव कर्त्तव्यं तत्त्वज्ञैस्तद्विशेषतः ॥७३६॥

अथातद्धर्मणः पक्षे (अर्थान्नाधर्मिणः पक्षो) नावद्यस्य मनागपि।
धर्मपक्षक्षतिर्यस्मादधर्मोत्कर्षपोष(रोप)णात् ॥८१४॥

इन पद्योंपरसे विज्ञ पाठक सहजमें ही पंचाध्यायीके प्रचलित अथवा मुद्रित पाठकी अशुद्धियोंका कुछ अनुभव कर सकते हैं और साथ ही उक्त हिन्दी टीकाको देखकर यह भी मालूम कर सकते हैं कि इन अशुद्ध पाठोंकी वजहसे उसमें क्या कुछ गड़बड़ी हुई है।

किसी किसी पद्यका पाठ-भेद स्वयं ग्रन्थकर्त्ताका किया हुआ भी जान पड़ता है, जिसका एक नमूना इस प्रकार है:—

उक्तं दिङ्मात्रमत्रापि प्रसंगाद्-गुरुलक्षणम्।
शेषं विशेषतो वक्ष्ये (ज्ञेयं) तत्स्वरूपं जिनागमात् ॥७१४॥

यहां 'वक्ष्ये' की जगह 'ज्ञेयं' पदका प्रयोग लाटीसंहिताके अनुकूल जान पड़ता है; क्योंकि लाटीसंहितामें इसके बाद गुरुका कोई विशेष स्वरूप नहीं बतलाया गया, जिसके कथनकी 'वक्ष्ये' पदके द्वारा पंचाध्यायीमें प्रतिज्ञा की गई है, और न इस पदमें किसी हृदयस्थ या करस्थ दूसरे ग्रन्थका नाम ही लिया है, जिसके साथ उस स्वरूप-कथनकी प्रतिज्ञा-शृङ्खलाको जोड़ा जा सकता। ऐसी हालतमें यहाँ प्रत्येक ग्रन्थका अपना पाठ उसके अनुकूल है, और इसलिये दोनोंको एक ग्रन्थकर्त्ताकी ही कृति समझना चाहिए।

(ग) लाटीसंहिताकी स्वतंत्र कथन-शैलीका स्पष्ट आभास करानेके लिये यहाँ नमूनेके तौरपर उसके कुछ ऐसे पद्य भी उद्धृत किये जाते हैं जो पंचाध्यायीमें नहीं हैं:—

ननु या प्रतिमा प्रोक्ता दर्शनाख्या तदादिमा।
जैनानां साऽस्ति सर्वेषामर्थादव्रतिनामपि ॥१४४॥
मैवं सति तथा तुर्यगुणस्थानस्य शून्यता।
नूनं दृक्प्रतिमा यस्माद् गुणे पञ्चमके मता ॥१४५॥

—तृतीय सर्ग

ननु व्रतप्रतिमायामेतत्सामायिकं व्रतं।
तदेवात्र तृतीयायां प्रतिमायां तु किं पुनः ॥४॥
सत्यं किन्तु विशेषोऽस्ति प्रसिद्धः परमागमे।
सातिचारं तु तत्र स्यादत्रातीचारवर्जितम् ॥५॥
किञ्च तत्र त्रिकालस्य नियमो नास्ति देहिनां।
अत्र त्रिकालनियमो मुनेर्मूलगुणादिवत् ॥६॥
तत्र हेतुवशात्क्वापि कुर्यात्कुर्यान्न वा क्वचित्।
सातिचार-व्रतत्वाद्वा तथापि न व्रतक्षतिः ॥७॥
अत्रावश्यं त्रिकालेऽपि कार्यं सामायिकं च यत्।
अन्यथा व्रतहानिः स्याद्तीचारस्य का कथा ॥८॥
अन्यत्राऽप्येवमित्यादि यावदेकादशस्थितिः।
व्रतान्येव विशिष्यन्ते नार्थादर्थान्तरं क्वचित् ॥९॥
शोभतेऽतीव संस्कारात्साक्षाद्दाकरजो मणिः।
संस्कृतानि व्रतान्येव निर्जरा-हेतवस्तथा ॥१०॥

—सप्तम सर्ग।

सारी लाटीसंहिता इसी प्रकारके ऊहापोहात्मक पद्योंसे भरी हुई है। यहाँ विस्तार-भयसे सिर्फ थोड़े ही पद्य उद्धृत किये गये हैं। इन पद्योंपरसे विज्ञ पाठक लाटीसंहिताकी कथनशैली और उसके साहित्य आदिका अच्छा अनुभव प्राप्त करनेके लिये बहुत कुछ समर्थ हो सकते हैं, और पंचाध्यायी-के साथ तुलना करनेपर उन्हें यह स्पष्ट मालूम होसकता है कि दोनों ग्रन्थ एक ही लेखनीसे निकले हुए हैं और उनका टाइप भी एक है।

(४) पंचाध्यायीके शुरूमें मंगलाचरण और ग्रन्थ करनेकी प्रतिज्ञा-रूपसे जो चार पद्य दिये हैं वे इस प्रकार हैं:—

पञ्चाध्यायावयं मम कर्तुर्ग्रन्थराजमात्मवशात् ।
अर्थालोकनिदानं यस्य वचस्तं स्तुवे महावीरम् ॥१॥
शेषानपि तीर्थंकराननन्तसिद्धानहं नमामि समम् ।
धर्माचार्याध्यापकसाधुविशिष्टान्मुनीश्वरान्वन्दे ॥२॥
जीयाज्जैनं शासनमनादिनिधनं सुवन्द्यमनवद्यम् ।
यदपि च कुमताराातीनदयं धूमध्वजोपमं दहति ॥३॥
इति वन्दितपञ्चगुरुः कृतमङ्गल—सत्क्रियः स एष पुनः ।
नाम्ना पञ्चाध्यायीं प्रतिजानीते चिकीर्षितं शास्त्रम् ॥४॥

इन पद्योंमें क्रमशः महावीर तीर्थंकर, शेष तीर्थंकर, अनन्त सिद्ध और आचार्य, उपाध्याय तथा साधुपदसे विशिष्ट मुनीश्वरोंकी वन्दना करके जैन-शासनका जयघोष किया है। और फिर अपनी इस वन्दना-क्रियाको मङ्गल-सत्क्रिया बतलाते हुए ग्रथका नामोल्लेख-पूर्वक उसके रचनेकी प्रतिज्ञा की गई है। ये ही सब बातें इसी क्रम तथा आशयको लिये हुए, शब्दों अथवा विशेषणादि-पदोंके कुछ हेर-फेर या कमी-बेशीके साथ लाटीसंहिताके शुरू-में भी पाई जाती हैं। यथा—

ज्ञानानन्दात्मानं नमामि तीर्थंकरं महावीरम् ।
यच्चिति विश्वमशेषं व्यदीपि नक्षत्रमेकमिवनभसि ॥१॥
नमामि शेषानपि तीर्थनायकाननन्तबोधादिचतुष्टयात्मनः ।
स्मृतं यदीयं किल नामभेषजं भवेद्धि विघ्नौघगदोपशान्तये ॥२॥
प्रदुष्टकर्म्माष्टकविप्रमुक्तकांस्तदत्यये चाष्टगुणान्वितानिह ।
ममाश्रये सिद्धगणानपि स्फुटं सिद्धेः पथस्तत्पदमिच्छतां नृणाम् ॥
त्रयीं नमस्यां जिनलिङ्गधारिणां सतां मुनीनामुभयोपयोगिनां ।
पदत्रयं धारयतां विशेषमात्पदं मुनेरद्वितयादिहार्थतः ॥४॥

जयन्ति जैनाः कवयश्च तद्गिरः प्रवर्तिता यैर्वृषमार्गदेशना।
विनिर्जितजाड्यमिहासुधारिणां तमस्तमोरेरिव रश्मिभिर्महत्।५।
इतीव सन्मङ्गलसत्क्रियां दधन्नधीयमानोन्वयसात्परंपराम्।
उपज्ञलाटीमिति संहितां कविश्चिकीर्षति श्रावकसद्व्रतस्थितिम्।६।

इन मङ्गलपद्योंकी पंचाध्यायीके उक्त मङ्गलपद्योंके साथ, मूल प्रतिपाद्य विषयकी दृष्टिसे, कितनी अधिक समानता है इसे विज्ञ पाठक स्वयं समझ सकते हैं। दोनों ग्रन्थोंके मङ्गलाचरणोंके स्तुति-पात्र ही एक नहीं बल्कि उनका क्रम भी एक है। साथ ही **'महावीरं', 'शेषानपि तीर्थकरान्'—'शेषानपि तीर्थनायकान्', 'अनन्तसिद्धान्'—'सिद्ध-गणान्', 'जीयात्'—'जयन्ति', 'इति', 'कृतमङ्गलसत्क्रिय':-'सन्मङ्गल-सत्क्रियां दधन्', 'चिकीर्षितं',-'चिकीर्षति'** ये पद भी उक्त समानताको और ज्यादा समुद्योतित कर रहे हैं। इसी तरह पंचाध्यायीका **'आत्म-वशात्'** रचा जाना और लाटी संहिताका **'उपज्ञा'** (स्वोपज्ञा) होना भी दोनों एक ही आशयको सूचित करते हैं। अस्तु; मङ्गल पद्योंकी इस स्थितिसे यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि दोनों ग्रन्थ एक ही विद्वान्-के रचे हुए हैं।

(५) इसके सिवाय, पंचाध्यायीमें ग्रन्थकारने अपनेको **'कवि'** नामसे उल्लेखित किया है—जगह जगह 'कवि' लिखा है। यथाः—

अत्रान्तरङ्गहेतुर्यद्यपि भावः कवेर्विशुद्धतरः।
हेतोस्तथापि हेतुः साध्वी सर्वोपकारिणी बुद्धिः ॥५॥
तत्राधिजीवमाख्यानं विदधाति यथाऽधुना।
कविः पूर्वापरायत्तपर्यालोचविचक्षणः॥ (उ०) १६०॥
उक्तो धर्मस्वरूपोपि प्रसंगात्संगतोंशतः।
कविर्लब्धावकाशस्तं विस्ताराद्वा करिष्यति ॥७७५॥

लाटीसंहितामें भी ग्रन्थकार महोदय अपनेको 'कवि' नामसे नामाङ्कित करते और 'कवि' लिखते हैं। जैसा कि ऊपर उद्धृत किये हुए पद्य नं० ६, नं० ७७५ (यह पद्य लाटीसंहिताके चतुर्थसर्गमें नं० २७०-मुद्रित २७६-पर दर्ज है) और नीचे लिखे पद्यों परसे प्रकट है—

तत्र स्थितः किल करोति कविः कवित्वम्।
तद्वर्धतां मयि गुणं जिनशासनं च ॥१-८६(मु० ८७)॥
प्रोक्तं सूत्रानुसारेण यथाणुव्रतपंचकं।
गुणव्रतत्रयं वक्तुमुत्सहेदधुना कविः ॥६-११७ (मु० १०६)

इसी तरह और भी कितने ही स्थानोंपर आपका 'कवि' नामसे उल्लेख पाया जाता है, कहीं कहीं असली नामके साथ कवि-विशेषण भी जुड़ा हुआ मिलता है, यथा—'सानन्दमास्ते कविराजमल्लः'(५६)। और इन सब उल्लेखोंसे यह जाना जाता है कि लाटीसंहिताके कर्त्ताकी कविरूपसे बहुत प्रसिद्धि थी, 'कवि' उनका उपनाम अथवा पदविशेष था और वे अकेले (एकमात्र) उसीके उल्लेख-द्वारा भी अपना नामोल्लेख किया करते थे—'जम्बूस्वामिचरित' और छन्दोविद्यामें भी 'कवि' नामसे उल्लेख है। इसीसे पंचाध्यायीमें जो अभी पूरी नहीं हो पाई थी, अकेले 'कवि' नामसे ही आपका नामोल्लेख मिलता है। नामकी इस समानतासे भी दोनों ग्रन्थ एक कविकी दो कृतियाँ मालूम होते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि कवि राजमल्ल एक बहुत बड़े विद्वान् और सत्कवि होगये हैं। कविके लिए जो यह कहा गया है कि 'वह नये नये सन्दर्भ—नई नई मौलिक रचनाएं—तय्यार करनेमें समर्थ होना चाहिये†' वह बात उनमें ज़रूर थी और ये दोनों ग्रन्थ उसके ज्वलन्त उदाहरण जान पड़ते हैं। इन ग्रन्थोंकी लेखन-प्रणाली और कथन-शैली अपने

† "कविर्नूतनसंदर्भः।"

ढंगकी एक ही है। लाटीसंहिताकी सन्धियोंमें‡ राजमल्लको '**स्याद्वादानवद्य-गद्य-पद्य-विद्याविशारद-विद्वन्मणि**' लिखा है और ये दोनों कृतियाँ उनके इस विशेषणके बहुत कुछ अनुकूल जान पड़ती हैं।—लाटीसंहिताको देखकर यह नहीं कहा जासकता कि पंचाध्यायी उसके कर्त्तासे भिन्न किसी और ऊंचे दर्जेके विद्वान्की रचना है। अस्तु।

मैं समझता हूँ ऊपरके इन सब उल्लेखों, प्रमाणों अथवा कथन-समुच्चयपरसे इस विषयमें कोई सन्देह नहीं रहता कि **पंचाध्यायी और लाटीसंहिता दोनों एक ही विद्वान् की दो विशिष्ट रचनाएँ हैं,** जिनमेंसे एक पूरी और दूसरी अधूरी है। पूरी रचना लाटीसंहिता है और उसमें उसके कर्त्ताका नाम बहुत स्पष्टरूपसे '**कविराजमल्ल**' दिया है। इसलिए पंचाध्यायीको भी 'कविराजमल्ल' की कृति समझना चाहिए, और यह बात बिलकुल ही सुनिश्चित जान पड़ती है—इसमें सन्देहके लिये स्थान नहीं।

ग्रन्थ-रचनाका समय-सम्बन्धादिक—

लाटीसंहिताको कविराजमल्लने वि० सं० १६४१ में आश्विनशुक्ला दशमी रविवारके दिन बनाकर समाप्त किया है। जैसा कि उसकी प्रशस्तिके निम्न पद्योंसे प्रकट है :—

श्रीनृपति(नृप)विक्रमादित्यराज्ये परिणते सति।
सहैकचत्वारिंशद्भिरब्दानां शतषोडश ॥ २ ॥

‡ एक सन्धि नमूनेके तौर पर इस प्रकार है :—

"इति श्रीस्याद्वादानवद्यगद्यपद्यविद्याविशारद-विद्वन्मणि-राजमल्लविरचितायां श्रावकाचाराऽपरनाम-लाटीसंहितायां साधुदूदात्मज-फामन-मनःसरोजारविंद-विकाशनैकमार्तण्डमण्डलायमानायां कथामुखवर्णनं नाम प्रथमः सर्गः।"

तत्राप्यऽश्विनीमासे सितपक्षे शुभान्विते।
दशम्यां दाशरथे:(थेश्च)शोभने रविवासरे ॥ ३१॥

पंचाध्यायी भी इसी समयके करीबकी—विक्रमकी १७वीं शताब्दीके मध्यकालकी—लिखी हुई है। उसका प्रारम्भ या तो लाटीसंहितासे कुछ पहले होगया था और उसे बीचमें रोककर लाटीसंहिता लिखी गई है और या लाटीसंहिताको लिखनेके बाद ही, सत्सहायको पाकर, कविके हृदयमें उसके रचनेका भाव उत्पन्न हुआ है—अर्थात्, यह विचार पैदा हुआ है कि उसे अब इसी टाइप अथवा शैलीका एक ऐसा ग्रन्थराज भी लिखना चाहिए जिसमें यथाशक्ति और यथावश्यकता जैनधर्मका प्रायः सारा सार खींचकर रख दिया जाय। उसीके परिणामस्वरूप पंचाध्यायीका प्रारम्भ हुआ जान पड़ता है। और उसे '**ग्रन्थराज**' यह उपनाम भी ग्रन्थके आदिम मंगलाचरणमें ही दे दिया गया है। परन्तु पंचाध्यायीका प्रारम्भ पहले माननेकी हालतमें यह मानना कुछ आपत्तिजनक जरूर मालूम होता है कि, उसमें उन सभी पद्योंकी रचना भी पहले ही से हो चुकी थी जो लाटीसंहितामें भी समानरूपसे पाये जाते हैं और इसलिये उन्हें पंचाध्यायी परसे उठाकर लाटीसंहितामें रक्खा गया है। क्योंकि इसके विरुद्ध पंचाध्यायीमें एक पद्य निम्न प्रकारसे उपलब्ध होता है:—

ननु तद्द(सुद)र्शनस्यैतल्लक्षणं स्यादशेषतः।
किमथास्त्यपरं किञ्चिल्लक्षणं तद्वदाद्य नः ॥४७७॥

यह पद्य लाटीसंहितामें भी चतुर्थ सर्गके शुरूमें कोष्ठकोल्लेखित पाठ-भेदके साथ पाया जाता है। इसमें 'तद्वदाद्य नः' इस वाक्यखण्डके द्वारा यह पूछा गया है कि, सम्यग्दर्शनका यदि कोई और भी लक्षण है तो 'उसे आज हमें बताइये'। 'वद अद्य नः' इन शब्दोंका पंचाध्यायीके साथ कोई सम्बन्ध स्थिर नहीं होता—यही मालूम नहीं होता कि यहाँ 'नः' (हमें) शब्दका वाच्य कौनसा व्यक्ति-विशेष है; क्योंकि

पंचाध्यायी किसी व्यक्ति-विशेषके प्रश्न अथवा प्रार्थनापर नहीं लिखी गई है। प्रत्युत इसके, लाटीसंहितामें उक्त शब्दोंका सम्बन्ध सुस्पष्ट है। लाटी-संहिता अग्रवाल-वंशावतंस मंगलगोत्री साहु दूदाके पुत्र संघाधिपति 'फामन' नामके एक धनिक विद्वानके लिए, उसके प्रश्न तथा प्रार्थनापर, लिखी गई है, जिसका स्पष्ट उल्लेख संहिताके 'कथामुखवर्णन' नामके प्रथम सर्गमें पाया जाता है। फामनको संहितामें जगह जगह आशीर्वाद भी दिया गया है। और उसे महामति, उपज्ञाग्रणी, साम्यधर्मनिरत, धर्मकथारसिक तथा संघाधिनाथ जैसे विशेषणोंके साथ उल्लेखित किया है। साथ ही, यह भी लिखा है कि वैराटके बड़े बड़े मुखियाओं अथवा सरदारोंमें भी उसका वचन महत्सूत्र (आगमवाक्य)के समान माना जाता है। उक्त पद्यसे पहले भी, चतुर्थसर्गका प्रारम्भ करते हुए, आशीर्वादका एक पद्य पाया जाता है और वह इस प्रकार है:—

इदमिदं तव भो वणिजांपते! भवतु भावितभावसुदर्शनं।
विदितफामननाममहामते! रसिक! धर्मकथासु यथार्थतः ॥१॥

इससे साफ जाना जाता है कि इस पद्यमें जिस व्यक्ति-विशेषको सम्बोधन करके आशीर्वाद दिया गया है वही अगले पद्यका प्रश्नकर्ता और उसमें प्रयुक्त हुए 'नः' पदका वाच्य है। लाटीसंहितामें प्रश्नकर्ता फामनके लिये 'नः' पदका प्रयोग किया गया है, यह बात नीचे लिखे पद्यसे और भी स्पष्ट हो जाती है।

सामान्यादवगम्य धर्मफलितं ज्ञातुं विशेषादपि।
भक्त्या यस्तमपीपृच्छद् वृषरुचिर्नाम्नाऽधुना फामनः ॥
धर्म्मत्वं किमथास्य हेतुरथ किं साक्षात् फलं तत्त्वतः।
स्वामित्वं किमथेति सूरिरवदत्सर्वं प्रणुन्नः कविः ॥७७॥७८॥

ऐसी हालतमें नहीं कहा जा जकता कि उक्त पद्य नं० ४७७ पंचाध्यायीसे उठाकर लाटीसंहितामें रक्खा गया है; बल्कि लाटीसंहितासे उठा-

कर वह पंचाध्यर्यामें रक्खा हुआ जान पड़ता है। साथ ही, यह भी मालूम होता है कि उक्त पद्यके उस वाक्य-खण्डमें समुचित परिवर्तनका होना या तो छूट गया और या ग्रन्थके अभी निर्माणाधीन होनेके कारण उस वक्त तक उसकी ज़रूरत ही नहीं समझी गई। और इसलिए पंचाध्यायीका प्रारम्भ यदि पहले हुआ हो तो यह कहना चाहिए कि उसकी रचना प्रायः उसी हद तक हो पाई थी जहाँसे आगे लाटीसंहितामें पाये जानेवाले समान पद्यों-का उसमें प्रारंभ होता है। अन्यथा, लाटीसंहिताके कथन-सम्बन्धादिको देखते हुए, यह मानना ही ज्यादा अच्छा और अधिक संभावित जान पड़ता है कि पंचाध्यायीका लिखा जाना लाटीसंहिताके बाद प्रारंभ हुआ है। परन्तु पंचाध्यायीका प्रारंभ पहले हुआ हो या पीछे, इसमें सन्देह नहीं कि वह लाटीसंहिताके बाद प्रकाशमें आई है और उस वक्त जनताके सामने रक्खी गई है जब कि कविमहोदयकी इहलोकयात्रा प्रायः समाप्त हो चुकी थी। यही वजह है कि उसमें किसी सन्धि, अध्याय, प्रकरणादिके या ग्रन्थकर्त्ताके नामादिककी योजना नहीं हो सकी, और वह **निर्माणाधीन** स्थितिमें ही जनताको उपलब्ध हुई है। मालूम नहीं ग्रन्थकर्ता महोदय इसमें और किन किन विषयोंका किस हद तक समावेश करना चाहते थे और उन्होंने अपने इस ग्रन्थराजके पांच महाविभागों—अध्यायों—के क्या क्या नाम सोचे थे।

हाँ, ग्रन्थमें विशेष कथनकी बड़ी बड़ी प्रतिज्ञाओंको लिए हुए कुछ सूचना-वाक्य ज़रूर पाये जाते हैं, जिनके द्वारा इस प्रकारकी सूचना की गई है कि यह कथन तो यहाँ प्रसंगवश दिग्दर्शनमात्रके रूपमें अथवा आंशिकरूपमें किया गया है, इस विषयका विस्तृत विशेष कथन यथावकाश (यथा स्थल) आगे किया जायगा। ऐसे कुछ वाक्य इस प्रकार हैं:—

उक्तं दिङ्मात्रमत्रापि प्रसंगाद्गुरुलक्षणम्।
शेषं विशेषतो वक्ष्ये तत्स्वरूपं जिनागमात्॥७१४॥

उक्तं दिङ्मात्रतोऽप्यत्र प्रसंगाद्वा गृहिव्रतम् ।
वक्ष्ये चोपासकाध्यायात् सावकाशात् सविस्तरम् ॥७४२॥
उक्तं धर्मस्वरूपोऽयं प्रसंगात्संगतोंशतः ।
कविर्लब्धावकाशस्तं विस्तराद्वा करिष्यति ॥७७५॥

इनमेंसे प्रथम पद्यमें 'गुरुलक्षण', दूसरेमें 'गृहिव्रत' और तीसरेमें 'धर्मस्वरूप'के विशेष कथनकी प्रतिज्ञा की गई है, जिसकी पूर्ति ग्रन्थके उपलब्ध भागमें कहीं भी देखनेमें नहीं आती। और इसलिये मालूम होता है कि ग्रन्थकार महोदय सचमुच ही, आद्य पद्यकी सूचनानुसार, इसे 'ग्रन्थराज' ही बनाना चाहते थे और इसमें जैन आचार, विचार एवं सिद्धान्त-सम्बन्धी प्रायः सभी विषयोंका पूर्वापर-पर्यालोचन-पूर्वक* विस्तारके साथ समावेश कर देना चाहते थे। काश, यह ग्रन्थ कहीं पूरा होगया होता तो सिद्धान्त-विषय और जैन-आचार-विचारको समझनेके लिये अधिकांश ग्रन्थोंको देखनेकी जरूरत ही न रहती—यह अकेला ही पचासों ग्रन्थोंकी जरूरतको पूरा कर देता। निःसंदेह, ऐसे ग्रन्थरत्नका पूरा न हो सकना समाजका बड़ा ही दुर्भाग्य है।

कविवरसे बहुत समय पहले विक्रमकी ९वीं शताब्दीमें भगवज्जिनसेनाचार्यने भी 'महापुराण' नामसे एक इससे भी बहुत बड़े ग्रन्थराजका आयोजन किया था और उसमें वे सारी ही जिनवाणीका—उसके चारों ही अनुयोगोंकी मूल बातोंका—संक्षेप तथा विस्तारके साथ समावेश कर देना चाहते थे और उसे इस रूपमें प्रस्तुत कर देनेकी इच्छा रखते थे जिसकी बाबत यह कहा जासके कि **'यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्'** अर्थात् जो इसमें नहीं वह कहीं भी नहीं। परन्तु महापुराणके अन्तर्गत २४

---

* कविवर पूर्वापरके पर्यालोचनमें दक्ष थे, यह बात स्वयं उनके निम्न वाक्यसे भी जानी जाती है—

"कविः पूर्वापरायत्तपर्यालोचविचक्षणः ॥उत्त० १९०॥

पुराणोंमेंसे वे 'आदिपुराण'को भी पूरा नहीं कर सके !—प्रस्तावित ग्रन्थका २४वाँ भाग भी नही लिख सके !! जिन्होंने आदिपुराणको देखा है वे समझ सकते हैं कि आचार्यमहोदयने अपनी प्रतिभा और प्राञ्जल लेखनी-से कितने कितने विषयोंको किस ढंगसे उसमें समाविष्ट किया है। बादको उनके शिष्य गुणभद्राचार्यने आदिपुराणको पूरा जरूर किया है और शेष २३ पुराण भी लिखे हैं, परन्तु वे सब मिलकर भी अधूरे आदि-पुराणके बराबर नहीं, और फिर उनमें वह बात कहाँ जो आदिपुराणमें पाई जाती है। वे तो प्रायः ग्रन्थका अधूरापन दूर करने और सामान्य विषयोंकी साधारण जानकारी करानेके लिये लिखे गये हैं। सच पूछिये तो महापुराणके मन्सूबे श्रीजिनसेनके साथ ही गये! अक्सर कागज पत्रोंमें वे बातें नोट की हुई रहती ही नहीं जो हृदयमें स्थित होती हैं। इसीसे गुणभद्राचार्य महापुराणको उस रूपमें पूरा न कर सके जिस रूपमें कि भगवज्जिनसेन उसे पूरा करना चाहते थे। और इसलिये एक अनुभवी एवं प्रतिभाशाली साहित्य-कलाकारके एकाएक उठ जानेसे समाजको बहुत बड़ी हानि पहुँचती है—उसका एक प्रकारसे बड़ा खजाना ही उससे छिन जाता है। यही बात कवि राजमल्लजीके अचानक निधनसे हुई! अस्तु।

इसी प्रकारका एक आयोजन कविवर राजमल्लजीके बाद भी किया गया है और वह विद्वद्वर पं० टोडरमलजीका हिन्दी "मोक्षमार्गप्रकाश" ग्रन्थ है। इसे भी ग्रन्थराजका रूप दिया जानेको था, परन्तु पंडितजी अकालमें काल-कवलित होगये और इसे पूरा नहीं कर सके! इस तरह ये समाजके दुर्भाग्यके तीन खास नमूने हैं। देखिये, समाजका यह दुर्भाग्य कब समाप्त होता है और कब इन तीनों प्रकारके प्रस्तावित ग्रन्थराजोंमेंसे किसी भी एक उत्तम ग्रन्थराजकी साङ्गोपाङ्ग रचनाका योग भिड़ता है और समाज को उससे लाभान्वित होनेका सुनहरी अवसर मिलता है।

यहाँपर मैं इतना और भी बतलादेना चाहता हूँ कि लाटीसंहिताकी रचना जिस प्रकार साहु फामन नामके एक धनिक एवं धर्मात्मा सज्जनकी

प्रार्थनापर और मुख्यतया उसके लिये हुई वैसे पंचाध्यायीकी रचना किसी व्यक्तिविशेषकी प्रार्थना पर अथवा किसी व्यक्तिविशेषको लक्ष्यमें रखकर उसके निमित्त नहीं हुई। उसे ग्रन्थकारमहोदयने उस समयकी आवश्यकताओंको महसूस (अनुभूत) करके और अपने अनुभवोंसे सर्व-साधारणको लाभान्वित करनेकी शुभभावनाको लेकर स्वयं अपनी स्वतन्त्र रुचिसे लिखा है और उसमें प्रधान कारण उनकी **सर्वोपकारिणी बुद्धि** है, जैसा कि मंगलाचरण और ग्रन्थप्रतिज्ञाके अनन्तर ग्रन्थ-निमित्तको सूचित करनेवाले स्वयं कविवरके निम्न दो पद्योंसे प्रकट है :—

> "अत्रान्तरङ्गहेतुर्यद्यपि भावः कवेर्विशुद्धतरः।
> हेतोस्तथापि हेतुः साध्वी सर्वोपकारिणी बुद्धिः ॥५॥
> सर्वोऽपि जीवलोकः श्रोतुंकामो वृषं हि सुगमोक्त्या।
> विज्ञप्तौ तस्य कृते तत्राऽयमुपक्रमः श्रेयान् ॥६॥

पहले पद्यमें ग्रन्थके हेतु (निमित्त)का निर्देश करके दूसरे पद्यमें यह बतलाया गया है कि सारा विश्व धर्मको सुगम उक्तियों द्वारा सुनना चाहता है, उसीके लिये यह सब ग्रन्थरचनाका प्रयत्न है। इसमें सन्देह नहीं कि कविवर महोदय अपने इस प्रयत्नमें बहुत कुछ सफल हुए हैं और उन्होंने यथासाध्य बड़ी ही सुगम उक्तियों-द्वारा इस ग्रन्थमें धर्मको समझनेके साधनोंको जुटाया है।

ग्रन्थ-निर्माणका स्थान-सम्बन्धादिक—

कवि राजमल्लने लाटीसंहिताका निर्माण 'वैराट' नगरके जिनालयमें बैठकर किया है। यह वैराटनगर वही जान पड़ता है जिसे 'बैराट' भी कहते हैं और जो जयपुरसे करीब ४० मीलके फासले पर है। किसी समय यह विराट अथवा मत्स्यदेशकी राजधानी थी और यहीं पर पाण्डवोंका गुप्तवेशमें रहना कहा जाता है। 'भीमकी डूँगरी' आदि कुछ स्थानोंको

लोग अब भी उसी वक्तके बतलाते हैं*। लाटीसंहितामें कविने, इस नगरकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा करते हुए, अपने समयका कितना ही वर्णन दिया है और उससे मालूम होता है कि यह नगर उस समय बड़ा ही समृद्धिशाली एवं शोभासम्पन्न था। यहाँ कोई दरिद्री नजर नहीं आता था, प्रजामें परस्पर असूया अथवा ईर्षाद्वेषादिके वशवर्ती होकर छिद्रान्वेषणका भाव नहीं था, वह परचक्रके भयसे रहित थी, सब लोग खुशहाल नीरोग तथा धर्मात्मा थे, एक दूसरेका कोई कण्टक नहीं था, चोरी वगैरहके अपराध नहीं होते थे और इससे नगरके लोग दंडका नाम भी नहीं जानते थे। अकबर बादशाहका उस समय राज्य था और वही इस नगरका स्वामी, भोक्ता तथा प्रभु था। नगर कोट-खाईसे युक्त था और उसकी पर्वतमालामें कितनी ही ताँबेकी खानें थीं जिनसे उस वक्त ताँबा निकाला जाता था और उसे गलागलूकर निकालनेका एक बड़ा भारी कारखाना भी कोटके बाहर, पासमें ही, दक्षिण दिशाकी ओर स्थित था‡। नगरमें ऊंचे स्थानपर एक सुन्दर प्रोत्तुंग जिनालय–दिगम्बर जैन मन्दिर–था, जिसमें यज्ञस्थंभ और समृद्ध कोष्टों (कोठों) को लिए हुए चार शालाएं थीं, उनके मध्यमें वेदी और वेदीके ऊपर उत्तम शिखर था। कविने इस जिनालयको वैराट नगरके सिरका मुकुट बतलाया है। साथ ही यह सूचित किया है कि वह नाना प्रकारकी रंगबिरंगी चित्रावली-

* लाटीसंहितामें भी पाण्डवोंके इन परंपरागत चिन्होंके अस्तित्वको सूचित किया है। यथा—

क्रीडादिशृंगेषु च पाण्डवानामद्यापि चाश्चर्यपरंपराङ्काः।
या काश्चिदालोक्य बलावलिप्ता दर्पं विमुञ्चन्ति महाबलाऽपि॥४७॥

‡ वैराट और उसके आसपासका प्रदेश आज भी धातुके मैलसे आच्छादित है, ऐसा डा० भाण्डारकरने अपनी एक रिपोर्टमें प्रकट किया है, जिसका नाम अगले फुटनोटमें दिया गया है।

से सुशोभित है और उसमें निर्ग्रन्थ जैनसाधु भी रहते हैं। इसी मन्दिरमें बैठकर कविने लाटीसंहिताकी रचना की है। बहुत सम्भव है कि पंचाध्यायी भी यहीं लिखी गई हो; क्योंकि यह स्थान कविको बहुत पसन्द आया है, जैसाकि आगेके एक फुटनोटसे मालूम होगा और यहाँसे अन्यत्र कविका जाना पाया नहीं जाता। अस्तु, यह ऊंचा अद्भुत जिनमन्दिर साधु दूदाके ज्येष्ठपुत्र और फामनके बड़े भाई 'न्योता' ने निर्माण कराया था और इसके द्वारा एक प्रकारसे अपना कीर्तिस्तम्भ ही स्थापित किया था; जैसा कि संहिताके निम्न पद्यसे प्रकट है:—

तत्राद्यस्य वरो सुतो वरगुणो न्योताह्वसंघाधिपो
येनैतज्जिनमन्दिरं स्फुटमिह प्रोत्तुंगमत्यद्भुतं।
वैराटे नगरे निधाय विधिवत्पूजाश्च बह्व्यः कृताः
अत्रामुत्र सुखप्रदः स्वयशसः स्तंभः समारोपितः ॥७२॥

आजकल वैराट ग्राममें पुरातन वस्तुशोधकोंके देखने योग्य जो तीन चीजें पाई जाती हैं उनमें पार्श्वनाथका मन्दिर भी एक खास चीज है और वह सम्भवतः यही मन्दिर मालूम होता है जिसका कविने लाटीसंहिता में उल्लेख किया है*। इस संहितामें संहिताको निर्म्माण करानेवाले साहु

* पार्श्वनाथका यह मन्दिर दिगम्बर जैन है; और दिगम्बर जैनोंके ही अधिकारमें है। इस मन्दिरके पासके कम्पाउण्ड (अहाते) की दीवारमें एक लेखवाली शिला चिनी हुई है और उसपर शक संवत् १५०६ (वि० सन् १६४४) 'इन्द्रविहार' अपर नाम 'महोदयप्रासाद' नामके एक श्वेताम्बर मन्दिरके निर्मापित तथा प्रतिष्ठित होनेका उल्लेख है। इस परसे डा० आर० भाण्डारकरने 'आर्किओलॉजिकल सर्वे वेस्टर्न सर्किल प्रोग्रेस रिपोर्ट सन् १९१०' में यह अनुमान किया है कि उक्त मन्दिर पहले श्वेताम्बरोंकी मिल्कियत था (देखो 'प्राचीन लेखसंग्रह' द्वितीय भाग)। परन्तु भाण्डारकर महोदयका यह अनुमान, लाटीसंहिताके उक्त कथनको देखते हुए समुचित

फामनके वंशका भी यत्किञ्चित विस्तारके साथ वर्णन है और उससे फामनके पिता, पितामह पितृव्यों, भाइयों और सबके पुत्र-पौत्रों तथा स्त्रियोंका हाल जाना जाता है। साथ ही, यह मालूम होता है कि वे लोग बहुत कुछ वैभवशाली तथा प्रभाव-सम्पन्न थे। इनकी पूर्वनिवास-भूमि **'डौकनी'** नामकी नगरी थी और ये **काष्ठासंघी** माथुरगच्छ पुष्करगणके भट्टारकोंकी उस गद्दीको मानते थे—उसके अनुयायी अथवा आम्नायी थे—जिसपर क्रमशः **कुमारसेन, हेमचन्द्र, पद्मनंदी, यशःकीर्ति** और **क्षेमकीर्ति** नामके भट्टारक प्रतिष्ठित हुए थे †। क्षेमकीर्ति भट्टारक उस

प्रतीत नहीं होता और इसके कई कारण हैं—एक तो यह कि लाटीसंहिता उक्त शिलालेखसे साढ़े तीन वर्षके करीब पहलेकी लिखी हुई है और उसमें वैराट-जिनालयको, जो कितने ही वर्ष पहले बन चुका था, एक दिगम्बर जैन-द्वारा निर्मापित लिखा है। दूसरा यह कि, शिलालेखमें जिस मन्दिरका उल्लेख है उसमें मूलनायक प्रतिमा विमलनाथकी बतलाई गई है, ऐसी हालतमें मन्दिर विमलनाथके नामसे प्रसिद्ध होना चाहिये था, पार्श्वनाथके नामसे नहीं। और तीसरा यह कि, शिलालेख एक कम्पाउण्ड की दीवारमें पाया जाता है, जिससे यह बहुत कुछ संभव है कि यह दूसरे मन्दिर का शिलालेख हो, उसके गिर जाने पर कम्पाउण्डकी नई रचना अथवा मरम्मतके समय वह उसमें चिन दिया गया हो। इसके सिवाय, दोनों मन्दिरोंका पासपास तथा एक ही अहातेमें होना भी कुछ असंभवित नहीं है। पहले कितने ही मन्दिर दोनों सम्प्रदायोंके संयुक्त तक रहे हैं; उस वक्त आजकल जैसी बेहूदा कशाकशी नहीं थी।

† जैसा कि प्रथमसर्गके निम्न पद्योंसे प्रकट है:—

श्रीमति काष्ठासंघे माथुरगच्छेऽथ पुष्करे च गणे।

लोहाचार्यप्रभृतौ समन्वये वर्तमाने च ॥६४॥

समय मौजूद भी थे और उनके उपदेश तथा आदेशसे उक्त जिनालयमें कितने ही रंग-विरंगे चित्रोंकी रचना हुई थी और उस रचनाको करनेवाला 'सार्थ' नामका कोई लिपिकार होगया था जैसा कि निम्न वाक्यसे प्रकट है:-

---

आसीत्सूरिकुमारसेनविदितः पट्टस्थभट्टारकः
स्याद्वादैरनवद्यवादनखरैर्वादीभकुम्भेभभित् ।
येनेदं युगयोगिभिः परिभृतं सम्यग्दृगादित्रयी
नानारत्नचितं वृषप्रवहणं निन्येऽत्र पारंपरम् ॥६५॥
तत्पट्टेऽजनि हेमचन्द्रगणभृद्भट्टारकोर्वीपतिः
काष्ठासंघनभोङ्गणे दिनमणिर्मिथ्यान्धकारारिजित् ।
यन्नामस्मृतिमात्रतोऽन्यगणिनो विच्छायतामागताः ।
खद्योता इव वाथवाप्युडुगणा भान्तीव भास्वत्पुरः ॥६६॥
तत्पट्टेऽभवदर्हतामवयः श्रीपद्मनन्दी गणी
त्रैविद्यो जिनधर्मकर्मठमनाः प्रायः सतामग्रणीः ।
भव्यात्मप्रतिबोधनोद्भटमतिर्भट्टारको वाक्पटु-
र्यस्याद्यापि यशः शशाङ्कविशदं जागर्ति भूमण्डले ॥६७॥
तत्पट्टे परमाख्यया मुनियशःकीर्तिश्च भट्टारको
नैर्ग्रन्थ्यं पदमार्हतं श्रुतबलादादाय निःशेषतः ।
सर्पिर्दुग्धदधीक्षुतैलमखिलं पञ्चापि यावद्रसान्
त्यक्त्वा जन्ममयं तदुग्रमकरोत्कर्मक्षयार्थं तपः ॥६८॥
तत्पट्टेऽस्त्यधुना प्रतापनिलयः श्रीक्षेमकीर्तिर्मुनिः
हेयादेयविचारचारुचतुरो भट्टारकोऽर्णांशुमान् ।
यस्य प्रोषधपारणादिसमये पादोदबिन्दूत्करै-
र्जातान्येव शिरांसि धौतकलुषाण्याशाम्बराणां नृणाम् ॥६९॥
तेषां तदाम्नायपरंपरायामासीत्पुरो ढौकनिनामधेयः ।
तद्वासिनः केचिदुपासकाः स्युः सुरेन्द्रसामग्र्युपमीयमानाः ॥७०॥

चित्रालीयंदलीलिखत् त्रिजगतामासृष्टिसर्गक्रमाद्
आदेशादुपदेशतश्च नियतं श्रीक्षेमकीर्तेः गुरोः ।
गुर्वाज्ञानतिवृत्तितश्च विदुषस्ताल्हूपदेशादपि
वैराटस्य जिनालये लिपिकरस्तत्साथंनामाऽप्यभूत ॥८४॥

वैराट नगरमें उस समय भट्टारक **हेमचन्द्र**की प्रसिद्ध आम्नायको पालनेवाले 'ताल्हू' नामके एक विद्वान भी थे, जिनके अनुग्रहसे **फामन**-को धर्मका स्वरूप जानने आदिमें कितनी ही सहायता मिली थी। परन्तु उसका वह सब जानना उस वक्त तक प्रायः सामान्य ही था जब तक कि **कविराजमल्ल** वहाँ पहुँचे* और उनसे धर्मका विशेष स्वरूपादि पूछा जाकर **लाटीसंहिता**की रचना कराई गई।

---

* कविराजमल्ल वैराट नगरके निवासी नहीं थे; बल्कि स्वयं ही किसी अज्ञात कारणवश वहाँ पहुँच गये थे, यह बात नीचे लिखे पद्यसे प्रकट है, जो संहितामें फामनका वर्णन करते हुए दिया गया है:—

येनानन्तरिताभिधानविधिना संघाधिनाथेन यद्-
धर्म्मारामयशोमयं निजवपुः कर्त्तुं चिरादीप्सितम्॥
तन्मन्ये फलवत्तरं कृतमिदं लब्ध्वाऽधुना सत्कविम्।
वैराटे स्वयमागतं शुभवशादुर्वीशमल्लाह्वयम् ॥७६॥

बहुत संभव है कि आगराके बाद (जहाँ सं० १६३२ में जम्बूस्वामिचरित की रचना हुई) नागौर होते हुए और नागौरमें (जहाँ छन्दोविद्या रची गई) कुछ अर्से तक ठहरकर कविवर वैराट नगर पहुँचे हों और अपने अन्तिम समय तक वहीं स्थित रहे हों; क्योंकि यह नगर आपको बहुत पसन्द आया मालूम होता है। आपने इसकी प्रशंसा तथा महिमाके गानमें स्वतः प्रसन्न होकर ४८ (११ से ५८) काव्य लिखे हैं और अपने इस कीर्तनको नगरका अल्प स्तवन बतलाया है; जैसा कि उसके अन्तके निम्न काव्यसे प्रकट है:—

इत्याद्यनेकैर्महिमोपमानैर्वैराटनाम्ना नगरं विलोक्य।
स्तोतुं मनागात्मतया प्रवृत्तः सानन्दमास्ते **कविराजमल्लः** ॥५८॥

इस तरह पर कविराजमल्लने वैराट नगर, अकबर बादशाह काष्ठासंघी भट्टारक-वंश, फामन-कुटुम्ब, स्वयं फामन और वैराट-जिनालयका कितना ही गुणगान तथा बखान करते हुए लाटीसंहिताके रचना-सम्बन्धको व्यक्त किया है। परन्तु खेद है कि इतना लम्बा लिखनेपर भी आपने अपने विषयका कोई खास परिचय नहीं दिया—यह नहीं बतलाया कि आप कहाँ के रहनेवाले थे, किस हेतुसे वैराट नगर गये थे; कौनसे वंश, जाति, गोत्र अथवा कुलमें उत्पन्न हुए थे; आपके माता-पिता तथा विद्यादि-गुरुका क्या नाम था और आप उस समय किस पदमें स्थित थे। लाटीसंहितासे—अध्यात्मकमलमार्तण्ड आदि से भी—इन सब बातोंका कोई पता नहीं चलता। हाँ, लाटीसंहिताकी प्रशस्तिमें एक पद्य निम्न प्रकारसे जरूर पाया जाता है—

एतेषामस्ति मध्ये गृहवृषरुचिमान् फामनः संघनाथ-
स्तेनोच्चैः कारितेयं सदनसमुचिता संहिता नाम लाटी।
श्रेयोर्थं फामनीयैः प्रमुदितमनसा दानमानासनाद्यैः।
स्वोपज्ञा राजमल्लेन विदितविदुषाऽऽम्नायिना हैमचन्द्रे॥४७(३८)

इस पद्यसे ग्रन्थकर्त्ताके सम्बन्धमें सिर्फ इतना ही मालूम होता है कि वे हेमचन्द्रकी आम्नायके एक प्रसिद्ध विद्वान् थे और उन्होंने फामनके दान-मान-आसनादिकसे प्रसन्नचित्त होकर लाटीसंहिताकी रचना की है। यहाँ जिन हेमचन्द्रका उल्लेख है वे वे ही काष्ठासंघी भट्टारक हेमचन्द्र जान पड़ते हैं जो माथुर-गच्छी पुष्कर-गणान्वयी भट्टारक कुमारसेनके पट्ट-शिष्य तथा पद्मनन्दि-भट्टारकके पट्ट-गुरु थे और जिनकी कविने संहिताके प्रथम सर्ग(पद्य नं० ६६)में बहुत प्रशंसा की है—लिखा है कि, वे भट्टारकोंके राजा थे, काष्ठासंघरूपी आकाशमें मिथ्यान्धकारको दूर करनेवाले सूर्य थे और उनके नामकी स्मृतिमात्रसे दूसरे आचार्य निस्तेज हो जाते थे अथवा सूर्यके सन्मुख खद्योत और तारागण-जैसी उनकी दशा होती थी

और वे फीके पड़ जाते थे। इन्हीं भ० हेमचन्द्रकी आम्नायमें 'ताल्हू' विद्वानको भी सूचित किया है। इससे इस विषयमें कोई सन्देह नहीं रहता कि **कविराजमल्ल एक काष्ठासंघी विद्वान् थे**। आपने अपनेको हेमचन्द्रका शिष्य या प्रशिष्य न लिखकर आम्नायी लिखा है और फामनके दान-मान-आसनादिकसे प्रसन्न होकर लाटीसंहिताके लिखनेको सूचित किया है, इससे यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि आप मुनि नहीं थे। बहुत संभव है कि आप गृहस्थाचार्य हों या त्यागी ब्रह्मचारीके पदपर प्रतिष्ठित रहे हों। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि आप एक बहुत बड़े प्रतिभाशाली विद्वान् थे, जैनागमोंका अध्ययन तथा अनुभव आपका बढ़ा चढ़ा था और आप सरलतासे विषयके प्रतिपादनमें कुशल एवं ग्रन्थ-निर्माणकी कलामें दक्ष थे।

लाटीसंहिताका नामकरण—

श्रावकाचार-विषयक ग्रन्थका 'लाटीसंहिता' यह नाम-करण बहुत ही अश्रुतपूर्व तथा अनोखा जान पड़ता है, और इस लिये पाठक इस विषयमें कुछ जानकारी प्राप्त करनेके जरूर इच्छुक होंगे। अतः यहाँपर इसका कुछ स्पष्टीकरण किया जाता है।

इस ग्रन्थमें कठिन पदों तथा लम्बे-लम्बे दुरूह समासोंका प्रयोग न करके सरल पदों व मृदु समासों तथा कोमल उक्तियोंके द्वारा श्रावकधर्मका संग्रह किया गया है और उसके प्रतिपादनमें उचित विशेषणोंके प्रयोगकी ओर यथेष्ट सावधानी रक्खी गई है। साथ ही, संयुक्ताक्षरोंकी भरमार भी नहीं की गई। इसी दृष्टिको लेकर ग्रन्थका नाम 'लाटीसंहिता' रक्खा गया जान पड़ता है; क्योंकि 'लाटी' एक रीति † है—रचनापद्धति है—और

---

† वैदर्भी, गौड़ी, पाञ्चाली और लाटी ये चार रीतियाँ हैं, जो क्रमशः विदर्भ, गौड़, पाञ्चाल और लाट (गुजरात) देशमें उत्पन्न हुए कवियोंके द्वारा सम्मत हैं। साहित्यदर्पणके **'लाटी तु रीति वैदर्भी-पाञ्चाल्यो-**

उसका ऐसा ही स्वरूप है, जैसा कि साहित्यदर्पणकी विवृत्तिमें उद्धृत 'लाटी' के निम्न लक्षणसे प्रकट है—

> मृदुपद-समाससुभगा युक्तैर्वर्णैर्न चातिभूयिष्ठा।
> उचित-विशेषणपूरित-वस्तुन्यासा भवेल्लाटी ॥

ग्रन्थकी रचना-पद्धति इस लक्षणके बिल्कुल अनुरूप है। इसके सिवाय, ग्रन्थकारने ग्रन्थरचनेकी प्रार्थनाका जो न्यास ग्रन्थमें किया है वह इस प्रकार है—

> सत्यं धर्मरसायनो यदि तदा मां शिक्षयोपक्रमात्
> सारोद्धारमिवाऽप्यनुग्रहतया स्वल्पाक्षरं सारवत्।
> आर्षं चापि मृदूक्तिभिः स्फुटमनुच्छिष्टं नवीनं मह-
> न्निर्माणं परिधेहि संघनृपतिर्भूयोऽप्यवादीदिति ॥८०॥

इसमें ग्रन्थ किस प्रकारका होना चाहिये उसे बतलाते हुए कहा गया है कि 'वह सारोद्धारकी तरह स्वल्पाक्षर, सारवान्, आर्ष, स्फुट (स्पष्ट), अनुच्छिष्ट, नवीन तथा महत्वपूर्ण होना चाहिये और यह सब कार्य मृदु उक्तियोंके द्वारा सम्पन्न किया जाना चाहिये—कठिन तथा दुरूह पद-समासोंके द्वारा नहीं।' अतः यहाँ 'मृदूक्तिभिः' जैसे पदोंके द्वारा, जो लाटी रीतिके संद्योतक हैं ('लाटी तु मृदुभिः पदैः'), इस 'लाटी' रीतिके रूपमें ग्रन्थरचनाकी सूचना की गई है और इस रीतिके अनुरूप ही ग्रन्थ-का नामकरण किया गया जान पड़ता है—जब कि पंचाध्यायीका नाम-करण उसके अध्यायोंकी संख्याके अनुरूप और शेष तीन ग्रन्थोंका नाम-करण उनके विषयके अनुरूप किया गया है। इससे, जिस अनुच्छिष्ट तथा

रन्तरे स्थिता' इस लक्षणके अनुसार वैदर्भी-मिश्रित पाञ्चालीको लाटी कहते हैं और इस लिये उसमें मधुरता, मृदूक्तियों तथा सुकुमार पदोंकी बहुलता होती है। (देखो, साहित्यदर्पण, सवृत्ति, निर्णयसा० पृ० ४६६-६६)

नवीन ग्रन्थके रचनेकी प्रार्थना की गई है उसके अनुरूप, नाममें भी नवीनता आगई है। ग्रन्थनिर्माणकी उक्त प्रार्थनापरसे ग्रन्थकी मौलिकता, मान्यता और उसकी प्रकृतिका भी कितना ही बोध हो जाता है।

जम्बूस्वामि-चरित—

आजसे कोई १६—१७ वर्ष पहले मुझे इस ग्रन्थका सर्वप्रथम दर्शन देहलीकी एक प्रतिपरसे हुआ था, जिसके मैंने उसी समय विस्तृत नोट्स ले लिये थे और फिर अनेकान्तके प्रथम वर्षकी ३री किरण (माघ सं० १९८६) में, 'कविराजमल्लका एक और ग्रन्थ' इस शीर्षकके साथ, इसका परिचय प्रकाशित किया था। उसी परिचयपरसे ग्रन्थकी सूचनाको पाकर और उसी एक प्रतिके आधारपर सं० १९९३ में 'माणिकचन्द्र ग्रन्थ-माला' के द्वारा इसका उद्धारकार्य हुआ है। यह प्राचीन ग्रन्थ-प्रति देहली-सेठके कूचेके जैनमंदिरमें मौजूद है, बहुत कुछ जीर्ण-शीर्ण है—कितनी ही जगह काग़ज़की टुकियाँ लगाकर उसकी रक्षा की गई है—,उसी वक्तके करीबकी लिखी हुई है जब कि इस ग्रन्थकी रचना हुई थी और उन्हीं साधु (साहु) टोडरकी लिखाई हुई है जिन्होंने कविसे इसकी रचना कराई थी। ग्रन्थकी रचनाका समय, अन्तकी गद्य प्रशस्तिमें विक्रम गताङ्क सं० १६३२ चैत्र सुदि अष्टमी दिया है अर्थात यह प्रकट किया है कि सं० १६३३ के ८वें दिन यह ग्रन्थ समाप्त किया गया है। यथा:—

"अथ संवत्सरेऽस्मिन् श्रीनृपविक्रमादित्यगताब्दसंवत् १६३२ वर्षे चैत्रसुदि ८ वासरे पुनर्वसुनक्षत्रे श्रीअर्गलपुरदुर्गे श्रीपातिसाहि-जला(ल)दीनअकब्बरसाहिप्रवर्तमाने श्रीमत्काष्ठासंघे माथुरगच्छे पुष्करगणे लोहाचार्यान्वये भट्टारकश्रीमलयकीर्तिदेवाः। तत्पट्टे भट्टारकश्रीगुणभद्रसूरिदेवाः। तत्पट्टे भट्टारकश्रीभानुकीर्तिदेवाः। तत्पट्टे भट्टारकश्रीकुमारसेननामधेयास्तदाम्नायेऽग्रोतकान्वये गर्ग-

गोत्रे भटानियाकोलवास्तव्य-श्रावकसाधुश्री ×·········एतेषां-मध्ये परमसुश्रावक-साधुश्रीटोडरेण जंबुस्वामिचरित्रं कारापितं लिखापितं च कर्मक्षयनिमित्तं ॥छ॥ लिखितं गंगादासेन ॥"

इससे यह ग्रन्थ लाटीसंहितासे ६–१० वर्ष पहलेका बना हुआ है। इसमें कुल १३ सर्ग हैं और मुख्यतया अन्तिम केवली श्रीजम्बूस्वामी तथा उनके प्रसादसे सन्मार्गमें लगनेवाले 'विद्युच्चर' की कथा का वर्णन है, जो बड़ी ही सुन्दर तथा रोचक है। कविने स्वयं इस चरितको एक स्थानपर, **'रोमाञ्चजनने क्षमं'** इस विशेषणके द्वारा, रोमाञ्चकारी (रोंगटे खड़े करनेवाला) लिखा है। इसका पहला सर्ग 'कथामुखवर्णन' नामका १४८ पद्योंमें समाप्त हुआ है और उसमें कथाके रचना-सम्बन्धको व्यक्त करते हुए कितनी ही ऐतिहासिक बातोंका भी उल्लेख किया है। **अकबर** बादशाहका कीर्तन और उसकी गुजरात-विजयका वर्णन करते हुए लिखा है कि उसने **'जजिया'** कर छोड़ दिया था और **'शराब'** बन्द की थी। यथाः—

"मुमोच शुल्कं त्वथ जेजियाऽभिधं
स यावदंभोधरभूधराधरं ।···२७॥
"प्रमादमादाय जनः प्रवर्त्तते
कुधर्मवर्गेषु यतः प्रमत्तधीः
ततोऽपि मद्यं तदवद्यकारणं
निवारयामास विदांवरः स हि ॥२६॥

आगरेमें उस समय अकबर बादशाहके एक खास अधिकारी (सर्वाधिकारत्तमः) 'कृष्णामंगल चौधरी' नामके क्षत्रिय थे जो 'ठाकुर' तथा 'अरजानीपुत्र' भी कहलाते थे और इन्द्रश्री को प्राप्त थे। उनके आगे 'गढमल्लसाहु' नामके एक वैष्णवधर्मावलम्बी दूसरे अधिकारी थे जो बड़े

× यहाँ बिन्दुस्थानीय भागमें साधु टोडरके पूर्वजों तथा वर्तमान कुटुम्बीजनोंके नामादिकका उल्लेख है।

परोपकारी थे और जिन्हें कविवरने परोपकारार्थ शाश्वती लक्ष्मी प्राप्त करनेरूप आशीर्वाद दिया है। इस ग्रन्थकी रचना करानेवाले टोडरसाहु इन दोनोंके खास प्रीतिपात्र थे और उन्हें टकसालके कार्यमें दक्ष लिखा है—

"तत्र··ठक्कुरसंज्ञकश्च अरजानीपुत्र इत्याख्यया
कृष्णामंगलचौधरीति विदितः क्षात्रः स्ववंशाधिपः।
श्रीमत्साहिजलालदीन-निकटः सर्वाधिकारक्षमः
सार्वः सर्वमयः प्रतापनिकरः श्रीमान्मदास्ते ध्रुवम् ॥५६॥"

येनाकारि महारिमानदमनं वित्तं बृहन्नार्जितम्
कालिंदीसरिदम्बुभिः सविधिना स्नात्वाथ विश्रांतिके।
तामारुह्य तुलामतुल्यमहिमां सौवर्ण्यशोभामयी—
मैन्द्रश्रीपदमात्मसात्कृतवता संराजितं भूतले ॥५७॥

तस्याग्रे गढमल्लसाहुरहती साधूकिरन्वर्थतो
यस्मात्स्वामिपरं बलेशमपि तं गृह्णाति न क्याप्ययम्।
श्रीमद्वैष्णवधर्मकर्मनिरतो गंगादितीर्थे रतः
श्रीमानेष परोपकारकारणो लभ्याच्छ्रियं शाश्वतीम् ॥५८॥

तयोर्द्वयोः प्रीतिरमामृतात्मकः स भाति नानाटकसारदक्षकः।
कथं कथायां श्रवणोत्सुकः स्यादुपासकः कश्च तदन्वयं वदे ॥५९॥

टोडरसाहु गर्गगोत्री अग्रवाल थे, भटानियाकोल (अलीगढ़) नगरके रहने वाले थे और काष्ठासंघी भट्टारक कुमारसेनके आम्नायी थे। कुमारसेन को भानुकीर्तिका, भानुकीर्तिको गुणभद्रका और गुणभद्रको मलयकीर्ति भट्टारकका पट्टशिष्य लिखा है। परन्तु लाटीसंहितामें, जो वि० सं० १६४१ में बनकर समाप्त हुई है, ये ही ग्रन्थकार इन्हीं कुमारसेन भट्टारकके पट्टपर क्रमशः हेमचन्द्र, पद्मनन्दी, यशःकीर्ति और क्षेमकीर्ति भट्टारकोंका होना लिखते हैं और प्रकट करते हैं कि इस समय क्षेमकीर्ति भट्टारक मौजूद हैं। इससे यह साफ मालूम होता है कि दस वर्षके भीतर चार पट्ट

बदल गये हैं और ये भट्टारक बहुत ही अल्पायु हुए हैं। संभव है कि उनकी इस अल्पायुका कारण कोई आकस्मिक मृत्यु अथवा नगरमें किसी वबाका फैल जाना रहा हो।

कवि राजमल्लने इस ग्रन्थमें अपना कोई विशेष परिचय नहीं दिया। हाँ, 'कवि' * विशेषणके अतिरिक्त "स्याद्वादाऽनवद्य-गद्य-पद्य-विद्या-विशारद" यह विशेषण इस ग्रन्थमें भी दिया गया है। साथ ही, ग्रन्थ-रचनेकी साहु टोडरकी प्रार्थनामें अपने विषयमें इतनी सूचना और की है कि आप महाबुद्धिसम्पन्न होते हुए 'परोपकारके लिये कटिबद्ध' थे और कृपासिन्धुके उस पार पहुँचे हुए थे—बड़े ही कृपापरायण थे। यथा:—

> यूयं परोपकाराय बद्धकक्षा महाधियः।
> उत्तीर्णाश्च परं तीरं कृपावारिमहोदधेः ॥१२६॥
> ततोऽनुग्रहमाधाय बोधयध्वं तु मे मनः।
> जम्बूस्वामिपुराणस्य शुश्रूषा हृदि वर्तते ॥१२७॥

बहुत संभव है कि आप कोई अच्छे त्यागी ब्रह्मचारी ही रहे हों—गृहस्थके जालमें फंसे हुए तो मालूम नहीं होते। अस्तु; इस ग्रन्थ परसे इतना तो स्पष्ट है कि आप कुछ वर्षों तक आगरे में भी रहे हैं। और आगरेके बाद ही वैराट नगर पहुँचे हैं, जहां के जिनालयमें बैठकर आपने 'लाटी-संहिता'की रचना की है।

एक बात और भी स्पष्ट जान पड़ती है और वह यह कि इस चरित-ग्रन्थकी रचना करते समय कविवर युवा-अवस्थाको प्राप्त थे—प्रौढ़ा अथवा वृद्धावस्थाको नहीं; क्योंकि गुरुजनोंकी उपस्थितिमें जम्बूस्वामिचरित-के रचनेकी जब उनसे मथुरा-सभामें प्रार्थना की गई तो उसके उत्तरमें

* यथा:—

"निग्रहस्थानमेतेषां पुरस्ताद्वक्ष्यते कविः।" (२-११६)

सर्वतोऽस्य सुलक्ष्माणि नाऽलं वर्णयितुं कविः (२-२१६)

उन्होंने अपनेको सबसे छोटा (लघु) बतलाते हुए स्पष्ट कहा है कि—वह दर्जेमें ही नहीं किन्तु उम्रमें भी छोटा है :—

सर्वेभ्योऽपिलघीयांश्च केवलं न क्रमादिह।
वयसोऽपि लघुर्बुद्धो गुणैर्ज्ञानादिभिस्तथा ॥१-१३४॥

उम्रका यह छोटापन कविवरके ज्ञानादिगुणोंको देखते हुए ३५-३६ वर्षसे कमका मालूम नहीं होता, और इसलिये सं० १६४१में लाटीसंहिता की रचनाके समय आपकी अवस्था ४५ वर्षके लगभग रही होगी। अध्यात्मकमलमार्तण्ड और पंचाध्यायी जैसे ग्रंथोंके लिये, जो आपके पिछले तथा अन्तिम जीवनकी कृतियाँ जान पड़ती हैं, यदि पाँच वर्षका समय और मान लिया जाय तो आपकी यह लोकयात्रा लगभग ५० वर्षकी अवस्थामें ही समाप्त हुई जान पड़ती है।

इसके सिवाय, ग्रन्थपरसे यह भी जान पड़ता है कि कविवर इस ग्रन्थकी रचनासे पहले समयसारादि अध्यात्मग्रन्थोंके अच्छे अभ्यासी होगये थे, उन्हें उनमें रस आरहा था और इसीसे उस समयके ताज़ा विचारों एवं संस्कारोंकी छाया इस ग्रन्थपर पड़ी हुई जान पड़ती है। जैसा कि नीचेके कुछ वाक्योंसे प्रकट है :—

मृदूक्त्या कथितं किञ्चिद्यन्मयाप्यल्पमेधसा।
स्वानुभूत्यादि तत्सर्वं परीक्ष्योद्धर्तुमर्हथ ॥१४३॥
इत्याराधितमाधर्मिकहृदि पंचगुरून नयन्।
जम्बूस्वामि-कथा-व्याजादात्मानं तु पुनाम्यहम् ॥१४४॥
सोऽहमात्मा विशुद्धात्मा चिद्रूपो रूपवर्जितः।
अतः परं यका संज्ञा सा मदीया न सर्वतः ॥१४५॥
यज्जानाति न तन्नाम यन्नामापि न बोधवत्।
इति भेदात्तयोर्नाम कथं कर्तृ नियुज्यते ॥१४६॥
अथाऽसंख्यातदेशित्वाच्चैकोऽहं द्रव्यनिश्चयात्।
नाम्ना पर्यायमात्रत्वादनन्तत्वेऽपि किं वदे ॥१४७॥

धन्यास्ते परमात्मतत्त्वममलं प्रत्यक्षमत्यक्षतः
साक्षात्स्वानुभवैकगम्यमहसां विन्दन्ति ये साधवः।
सान्द्रं मज्जतया न मज्जनतया प्रक्षालितान्तर्मला-
स्तत्रानन्तसुखामृताम्बुसरसीहंसाश्च तेभ्यो नमः ॥१४८॥

—प्रथम सर्ग

इनमें 'जम्बूस्वामि-कथाके बहाने मैं अपनी आत्माको पवित्र करता हूँ' ऐसा कहकर बतलाया है कि—'मैं वह (परंब्रह्मरूप) आत्मा हूँ, विशुद्धात्मा हूँ, चिद्रूप हूँ, रूपवर्जित हूँ, इससे आगे और जो संज्ञा ('राजमल्ल' नाम) है वह मेरी नहीं है। जो जानता है वह नाम नहीं है और जो नाम है वह ज्ञानवान् नहीं है, दोनोंके इस भेदके कारण नाम (संज्ञा) को कैसे कर्ता ठहराया जाय? मैं तो द्रव्यनिश्चयमें—द्रव्यार्थिक नयके निश्चयानुसार—असंख्यातप्रदेशिरूपमें एक हूँ, नामके मात्र पर्यायपना और अनन्तत्वपना होनेसे मैं अपनेको क्या कहूँ?—किस नामसे नामाङ्कित करूं? वे साधु धन्य हैं जो स्वानुभवगम्य निर्मल गाढ़ परमात्मतत्वको साक्षात् अतीन्द्रिय-रूपसे प्रत्यक्ष जानते हैं और जिन्होंने मज्जनतासे नहीं किन्तु सज्जतासे अन्तर्मलोंको धो डाला है और उस परमात्मतत्वरूप सरोवरके हंस बने हुए हैं जो अनन्त सुखस्वरूप अमृतजलका आधार है उन साधुओंको नमस्कार।'

इस प्रकारका भाव ग्रन्थकारने लाटीसंहिताके 'कथामुखवर्णन' नामके पहले सर्गमें अथवा अन्यत्र कहीं भी व्यक्त नहीं किया, और इसलिये यह अध्यात्म-ग्रन्थोंके कुछ ही पूर्ववर्ती ताजा अध्ययन-जन्य संस्कारोंका परिणाम जान पड़ता है। इस ग्रन्थमें काव्य-रचना करते समय दुर्जनोंकी भीतिका कुछ उल्लेख जरूर किया है और फिर साहसके साथ कह दिया है—

यदि संति गुणा वाण्यामत्रौदार्यादयः क्रमात्।
साधवः साधु मन्यन्ते का भीतिः शठविद्विषाम् ॥१४९॥

परन्तु लाटीसंहितादि दूसरे ग्रन्थोंमें इस प्रकारकी दुर्जन-भीतिका कोई उल्लेख नहीं है, और इससे मालूम होता है कि कविवरके विचारोंमें इसके बादसे ही परिवर्तन हो गया था और वे और ऊंचे उठ गये थे।

इस ग्रन्थका आदिम मंगलाचरण इस प्रकार है :—

उद्दीपीकृतपरमानन्दाद्यात्मचतुष्टयं च बुधाः।
निगदन्ति यस्य गर्भाद्युत्सवमिह तं स्तुवे वीरम् ॥१॥
बहिरंतरंगमंगं संगच्छद्भिः स्वभावपर्यायैः।
परिणममानः शुद्धः सिद्धसमूहोऽपि वो श्रियं दिशतु ॥२॥
चरित्रमोहारिविनिर्जयाद्यतिर्विरज्यशय्याशयनाशनादपि।
व्रतं तपः शीलगुणाश्च धारयंस्त्रयीव जीयाद्यदिवा मुनित्रयी ॥३॥
रवेः करालीव विधुन्वती तमो यदान्तरं स्यात्पदवादि-भारती।
पदार्थसार्थो पदवीं ददर्श या मनोम्बुजे मे पदमातनोतु सा ॥४॥

यहाँ मंगलरूपमें वीर (अर्हन्त), सिद्धसमूह और मुनित्रयी (आचार्य, उपाध्याय, साधु) इन पंचपरमेष्ठिका जिस क्रमसे स्मरण किया गया है उसीका अनुसरण लाटीसंहिता और पंचाध्यायीमें भी पाया जाता है। भारती (सरस्वती) का जो स्मरण यहाँ 'स्याद्वादिनी' के रूपमें है वही अध्यात्मकमलमार्तण्डमें 'जगदम्बभारती' के रूपमें और लाटीसंहितामें 'जैन कविवरोंकी भारती के रूपमें ('जयन्ति जैनाः कवयश्च तद्गिरः') उपलब्ध होता है। और अन्तको पंचाध्यायीमें उसे ही 'जैनशासन' ('जीयाज्जैनं शासनम्') रूपमें उल्लेखित किया है। और इस तरह इन ग्रन्थोंकी मंगलशरणी प्रायः एक पाई जाती है।

हाँ, एक बात और भी इस सम्बन्धमें नोट करलेने की है और वह यह कि इस जम्बूस्वामिचरितके द्वितीयादि सर्गोंमें पहले एक एक पद्य द्वारा उन साहु टोडरको आशीर्वाद दिया गया है जिन्होंने ग्रन्थकी रचना कराई है और जिन्हें ग्रन्थमें अनेक गुणोंका आगार, महोदार, त्यागी (दानी),

धन्यास्ते परमात्मतत्त्वममलं प्रत्यक्षमत्यक्षतः
साक्षात्स्वानुभवैकगम्यमहसां विन्दन्ति ये साधवः।
सान्द्रं सज्जतया न मज्जनतया प्रक्षालितान्तर्मला-
स्तत्रानन्तसुखामृताम्बुमरसीहंसाश्च तेभ्यो नमः ॥१४८॥

—प्रथम सर्ग

इनमें 'जम्बूस्वामि-कथाके बहाने मैं अपनी आत्माको पवित्र करता हूँ' ऐसा कहकर बतलाया है कि—'मैं वह (परंब्रह्मरूप) आत्मा हूँ, विशुद्धात्मा हूँ, चिद्रूप हूँ, रूपवर्जित हूँ, इससे आगे और जो संज्ञा ('राजमल्ल' नाम) है वह मेरी नहीं है। जो जानता है वह नाम नहीं है और जो नाम है वह ज्ञानवान् नहीं है, दोनोंके इस भेदके कारण नाम (संज्ञा) को कैसे कर्ता ठहराया जाय? मैं तो द्रव्यनिश्चयसे—द्रव्यार्थिक नयके निश्चयानुसार—असंख्यातप्रदेशिरूपसे एक हूँ, नामके मात्र पर्यायपना और अनन्तत्वपना होनेसे मैं अपनेको क्या कहूँ?—किस नामसे नामाङ्कित करूं? वे साधु धन्य हैं जो स्वानुभवगम्य निर्मल गाढ परमात्मतत्वको साक्षात् अतीन्द्रिय-रूपसे प्रत्यक्ष जानते हैं और जिन्होंने मज्जनतासे नहीं किन्तु सज्जतासे अन्तर्मलोंको धो डाला है और उस परमात्मतत्वरूप सरोवरके हंस बने हुए हैं जो अनन्त सुखस्वरूप अमृतजलका आधार है उन साधुओंको नमस्कार।'

इस प्रकारका भाव ग्रन्थकारने लाटीसंहिताके 'कथामुखवर्णन' नामके पहले सर्गमें अथवा अन्यत्र कहीं भी व्यक्त नहीं किया, और इसलिये यह अध्यात्म-ग्रन्थोंके कुछ ही पूर्ववर्ती ताजा अध्ययन-जन्य संस्कारोंका परिणाम जान पड़ता है। इस ग्रन्थमें काव्य-रचना करते समय दुर्जनोंकी भीतिका कुछ उल्लेख जरूर किया है और फिर साहसके साथ कह दिया है—

यदि संति गुणा वाण्यामत्रौदार्यादयः क्रमात्।
साधवः साधु मन्यन्ते का भीतिः शठविद्विषाम् ॥१४१॥

परन्तु लाटीसंहितादि दूसरे ग्रन्थोंमें इस प्रकारकी दुर्जन-भीतिका कोई उल्लेख नहीं है, और इससे मालूम होता है कि कविवरके विचारोंमें इसके बादसे ही परिवर्तन हो गया था और वे और ऊंचे उठ गये थे।

इस ग्रन्थका आदिम मंगलाचरण इस प्रकार है :—

उद्दीपीकृतपरमानन्दाद्यात्मचतुष्टयं च बुधाः।
निगदन्ति यस्य गर्भाद्युत्सवमिह तं स्तुवे वीरम् ॥१॥
बहिरंतरंगमंगं संगच्छद्भिः स्वभावपर्यायैः।
परिणममानः शुद्धः सिद्धसमूहोऽपि वो श्रियं दिशतु ॥२॥
चरित्रमोहारिविनिर्जयाद्यतिर्विरज्यशय्याशयनाशनादपि।
व्रतं तपः शीलगुणाश्च धारयंस्त्रयीव जीयाद्यदिवा मुनित्रयी ।३।
रवेः करालीव विधुन्वती तमो यदान्तरं स्यात्पदवादि-भारती।
पदार्थसार्थां पदवीं ददर्श या मनोम्बुजे मे पदमातनोतु सा ।४।

यहाँ मंगलरूपमें वीर (अर्हन्त), सिद्धसमूह और मुनित्रयी (आचार्य, उपाध्याय, साधु) इन पंचपरमेष्ठिका जिस क्रमसे स्मरण किया गया है उसीका अनुसरण लाटीसंहिता और पंचाध्यायीमें भी पाया जाता है। भारती (सरस्वती) का जो स्मरण यहाँ 'स्याद्वादिनी' के रूपमें है वही अध्यात्मकमलमार्तण्डमें 'जगदम्बभारती' के रूपमें और लाटीसंहितामें 'जैन कविवरोंकी भारती'के रूपमें ('जयन्ति जैनाः कवयश्च तद्गिरः') उपलब्ध होता है। और अन्तको पंचाध्यायीमें उसे ही **'जैनशासन'** ('जीयाज्जैनं शासनम्') रूपसे उल्लेखित किया है। और इस तरह इन ग्रन्थोंकी मंगल-शरणी प्रायः एक पाई जाती है।

हाँ, एक बात और भी इस सम्बन्धमें नोट करलेने की है और वह यह कि इस जम्बूस्वामिचरितके द्वितीयादि सर्गोंमें पहले एक एक पद्य द्वारा उन साहु टोडरको आशीर्वाद दिया गया है जिन्होंने ग्रन्थकी रचना कराई है और जिन्हें ग्रन्थमें अनेक गुणोंका आगार, महोदार, त्यागी (दानी),

यशस्वी, धर्मानुरागी, धर्मतत्पर और सुधी घोषित किया है। तदनन्तर वृषभादि-वर्धमान-पर्यन्त दो दो तीर्थंकरोंकी वन्दनादिरूप प्रत्येक सर्गमें अलग अलग मंगलाचरण किया गया है। लाटीसंहिताके द्वितीयादि सर्गोंमें उसका निर्माण करानेवाले फामनको आशीर्वाद तो दिया गया है परन्तु सर्ग-क्रमसे अलग अलग मंगलाचरणकी बातको छोड़ दिया है, अध्यात्मकमलमार्तण्डादि दूसरे ग्रन्थोंमें भी दोबारा मंगलाचरण नहीं किया गया है और यह बात रचना-सम्बन्धमें जम्बूस्वामिचरितके बाद कविके कुछ विचार-परिवर्तनको सूचित करती है। जान पड़ता है उन्होंने दोबारा तिबारा आदिरूपसे पुनः मंगलाचरणको फिर आवश्यक नहीं समझा और ग्रन्थका एक ही प्रारम्भिक मंगलाचरण करना उन्हें उचित जान पड़ा है। इसीसे लाटीसंहिता और पंचाध्यायीमें महावीरके अनन्तर शेष तीर्थंकरोंका भी स्मरण समुच्चयरूपमें कर लिया गया है।

मथुरामें सैकड़ों जैनस्तूपोंके अस्तित्वका पता—

कवि राजमल्लके इस 'जम्बूस्वामिचरित' से—उसके 'कथामुखवर्णन' नामक प्रथम सर्गसे—एक खास बातका पता चलता है, और वह यह कि उस वक्त—अकबर बादशाहके समयमें—मथुरा नगरीके पासकी बहिर्भूमि पर ५०० से अधिक जैन स्तूप थे। मध्यमें अन्त्य केवली जम्बूस्वामीका स्तूप (निःसही-स्थान) और उसके चरणोंमें ही विद्युच्चर मुनिका स्तूप था। फिर उनके आस-पास कहीं पाँच, कहीं आठ, कहीं दस और कहीं बीस इत्यादि रूपसे दूसरे मुनियोंके स्तूप बने थे। ये स्तूप बहुत पुराने होने की वजहसे जीर्ण-शीर्ण होगये थे। साहु टोडरजी जब यात्राको निकले और मथुरा पहुँचकर उन्होंने इन स्तूपोंकी इस हालतको देखा तो उनके हृदयमें उन्हें फिरसे नये करा देनेका धार्मिक भाव उत्पन्न हुआ। चुनाँचे आपने बड़ी उदारताके साथ बहुत द्रव्य खर्च करके उनका नूतन संस्कार कराया। स्तूपोंके इस नवीन संस्करणमें ५०१ स्तूपोंका तो एक समूह और १३ का

दूसरा, ऐसे ५१४ स्तूप बनाये गये और उनके पास ही १२ द्वारपाल आदिक भी स्थापित किये गये। जब निर्माणका यह सब कार्य पूरा हो गया तब चतुर्विध संघको बुलाकर उत्सवके साथ सं० १६३० के अनन्तर (सं० १६३१ की) ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशीको बुधवारके दिन ६ घड़ीके ऊपर पूजन तथा सूरिमन्त्रपुरस्सर इस तीर्थसम * प्रभावशाली क्षेत्रकी प्रतिष्ठा की गई ×। इस विषयको सूचित करने वाले पद्य इस प्रकार हैं—

अथैकदा महापुर्यां मथुरायां कृतोद्यमः।
यात्रायै सिद्धक्षेत्रस्थचैत्यानामगमत्सुखम् ॥७६॥
तस्याः पर्य्यन्तभूभागे दृष्ट्वा स्थानं मनोहरम्।
महर्षिभिः समासीनं पूतं सिद्धास्पदोपमम् ॥८०॥
तत्रापश्यत्सधर्मात्मा निःसहीस्थानमुत्तमम्।
अंत्यकेवलिनो जंबूस्वामिनो मध्यमादिमम् ॥८१॥
ततो विद्युच्चरो नाम्ना मुनिः स्यात्तदनुग्रहात्।
अतस्तस्यैव पादान्ते स्थापितः पूर्वसूरिभिः ॥८२॥
ततः केऽपि महासत्वा दुःखसंसारभीरवः।
संनिधानं तयोः प्राप्य पदं साम्यं समं दधुः ॥८३॥

* 'तीर्थ' न कहकर 'तीर्थसम' कहनेका कारण यही है कि कवि-द्वारा जम्बूस्वामीका निर्वाण-स्थान, मथुराको न मानकर, विपुलाचल माना गया है ('ततो जगाम निर्वाणं केवली विपुलाचलात्')। सकलकीर्तिके शिष्य जिनदास ब्रह्मचारीने भी विपुलाचलको ही निर्वाणस्थान बतलाया है। मथुराको निर्वाणस्थान माननेकी जो प्रसिद्धि है वह किस आधारपर अवलम्बित है, यह अभी तक भी कुछ ठीक मालूम नहीं हो सका।

× प्रतिष्ठा हो जानेके बाद ही सभामें जम्बूस्वामीका चरित रचनेके लिये कवि राजमल्लसे प्रार्थना की गई है, जिसके दो पद्य पीछे (पृ० ४० पर) उद्धृत किये गये हैं।

ततो धूतमहामोहा अखंडव्रतधारिणः ।
स्वायुरंते यथास्थानं जग्मुस्तेभ्यो नमो नमः ॥८५॥
ततः स्थानानि तेषां हि तयोः पार्श्वे सुयुक्तितः ।
स्थापितानि यथाम्नायं प्रमाणनयकोविदैः ॥८६॥
क्वचित्पंच क्वचिच्चाष्टौ क्वचिद्दश ततः परम् ।
क्वचिद्विंशतिरेव स्यात् स्तूपानां च यथायथम् ॥८७॥
तत्रापि चिरकालत्वे द्रव्याणां परिणामतः ।
स्तूपानां कृतकत्वाच्च जीर्णता स्याद्व्याधिता ॥८८॥
तां [च] दृष्ट्वा स धर्मात्मा नव्यमुद्धर्तुमुत्सकः ।
स्याद्यथा जीर्णपत्राणि वसंत-समये नवम् ॥८९॥
मनो व्यापारयामास धर्मकार्ये स बुद्धिमान् ।
तावद्धर्म्मफलास्तिक्यं श्रद्धानोऽवधानवान् ॥९०॥

× × × ×

ज्ञातधर्म्मफलः सोऽयं स्तूपान्यभिनवत्वतः ।
कारयामास पुण्यार्थं यशः केन निवार्यते ॥११४॥
यशः कृते धनं तेनुः केचिद्धर्म्मकृतेऽर्थतः ।
तद्द्वयार्थमसौ दध्रे यथा स्वादुमहौषधम् ॥११५॥
शीघ्रं शुभदिने लग्ने मंगलद्रव्यपूर्वकम् ।
सोत्साहः स समारंभं कृतवान्पुण्यवानिह ॥११६॥
ततोऽप्येकाग्रचित्तेन सावधानतयाऽनिशम् ।
महोदारतया शश्वन्निन्ये पूर्णानि पुण्यभाक् ॥११७॥
शतानां पंच चाप्येकं शुद्धं चाधित्रयोदशम् ।
स्तूपानां तत्समीपे च द्वादशद्वारिकादिकम् ॥११८॥
संवत्सरे गताब्दानां शतानां षोडशं क्रमात् ।
शुद्धैस्त्रिशद्भिरब्दैश्च साधिकं दधति स्फुटम् ॥११९॥

शुभे ज्येष्ठे महामासे शुक्ले पक्षे महोदये ।
द्वादश्यां बुधवारे स्याद् घटीनां च नवोपरि ॥१२०॥
परमाश्चर्यपदं पूतं स्थानं तीर्थसमप्रभम् ।
शुभ्रं रुक्मगिरेः साक्षात्कूटं लक्षमिवोच्छ्रितं ॥१२१॥
पूजया च यथाशक्ति सूरिमंत्रैः प्रतिष्ठितम् ।
चतुर्विधमहासंघं समाहूयाऽत्र धीमता ॥१२२॥

ये सब स्तूप आज मथुरामें नहीं हैं, कालके प्रबल आघात तथा विरोधियोंके तीव्र मत-द्वेषने उन्हें धराशायी कर दिया है, उनके भग्नावशेष ही आज कुछ टीलोंके रूपमें चीन्हें जा सकते हैं। आम तौरपर जैनियोंको इस बातका पता भी नहीं कि मथुरामें कभी उनके इतने स्तूप रहे हैं। बहुतसे स्तूपोंके ध्वंसावशेष तो सदृशताके कारण गलतीसे बौद्धोंके समझ लिये गये हैं और तदनुसार जैनी भी वैसा ही मानने लगे हैं। परंतु ऊपरके उल्लेख-वाक्योंसे प्रकट है कि मथुरामें जैन-स्तूपोंकी एक बहुत बड़ी संख्या रही है। और उसका कारण भी है। 'विद्युच्चर' नामका एक बहुत बड़ा डाकू था, जो राजपुत्र होनेपर भी किसी दुरभिनिवेशके वश चोर-कर्ममें प्रवृत्त होकर चोरी तथा डकैती किया करता था, और जिसे आम जैनी 'विद्युत चोर' के नामसे पहचानते हैं। उसके पाँचसौ साथी थे। जम्बूस्वामीके व्यक्तित्वसे प्रभावित होकर, उनकी असाधारण निस्पृहता-विरक्तता-अलिप्तताको देखकर और उनके सदुपदेशको पाकर उसकी आँखें खुलीं, हृदय बदल गया, अपनी पिछली प्रवृत्ति पर उसे भारी खेद हुआ और इसलिये वह भी स्वामीके साथ जिनदीक्षा लेकर जैनमुनि बन गया। यह सब देखकर उसके 'प्रभव' आदि साथी भी, जो सदा उसके साथ एक-जान एकप्राण होकर रहते थे, विरक्त हो गये और उन्होंने भी जैनमुनि-दीक्षा ले ली। इस तरह यह ५०१ मुनियोंका संघ प्रायः एक साथ ही रहता तथा विचरता था। एक बार जब यह संघ विहार करता हुआ जा रहा था तो इसे मथुराके बाहर एक महोद्यानमें सूर्यास्त होगया और इसलिये मुनिचर्या-

के अनुसार सब मुनि उसी स्थान पर ठहर गये *। इतनेमें किसी वन-देवताने आकर विद्युच्चरको सूचना दी कि यदि तुम लोग इस स्थानपर रातको ठहरोगे तो तुम्हारे ऊपर ऐसे घोर उपसर्ग होंगे जिन्हें तुम सहन नहीं कर सकोगे, अतः पाँच दिनके लिये किसी दूसरे स्थान पर चले जाओ। इस पर विद्युच्चरने संघके कुछ वृद्ध मुनियोंसे परामर्श किया, परन्तु मुनिचर्या-के अनुसार रातको गमन करना उचित नहीं समझा गया। कुछ मुनियोंने तो दृढ़ताके साथ यहाँ तक कह डाला कि—

"अस्तं गते दिवानाथे नेयं कालोचिता क्रिया ॥१२-१३३॥
बिभ्यतां कीदृशो धर्मः स्वामिन्निःशंकिताभिधः।
उपसर्गसहो योगी प्रसिद्धः परमागमे ।-१३४॥
भवत्वत्र यथाभाव्यं भाविकर्म शुभाऽशुभम्।
तिष्ठामो वयमद्यैव रजन्यां मौनवृत्तयः।-१३५॥

'सूर्यास्तके बाद यह गमन-क्रिया उचित नहीं है। डरने वालोंके निःशंकित नामका धर्म कैसा? आगममें उपसर्गोंको सहनेवाला ही योगी प्रसिद्ध है। इसलिये भावी शुभ-अशुभ-कर्मानुसार जो कुछ होना है वह हो रहो, हम तो आज रातको यहीं मौन लेकर रहेंगे।'

तदनुसार सभी मुनिजन मौन लेकर स्थिर हो गये। इसके बाद जो उपसर्ग-परम्परा प्रारम्भ हुई उसे यहाँ बतलाकर पाठकोंका चित्त दुखानेकी जरूरत नहीं है—उसके स्मरणमात्रसे रोंगटे खड़े होते हैं। रातभर नाना-

---

* अथ विद्युच्चरो नाम्ना पर्यटन्निह सन्मुनिः।
एकादशांगविद्यायामधीती विदधत्तपः ॥१२-१२५॥
अथान्येद्युः स निःसंगो मुनिपंचशतैर्वृतः।
मथुरायां महोद्यानप्रदेशेष्वगमन्मुदा ॥-१२६॥
तदागच्छत्स वेल(र)क्त्यं भानुरस्ताचलं श्रितः।
घोरोपसर्गमेतेषां स्वयं द्रष्टुमिवाक्षमः ॥-१२७॥

प्रकारके घोर उपसर्ग जारी रहे और उन्हें दृढताके साथ साम्यभावसे सहते हुए ही मुनियोंने प्राण त्याग किये हैं। उन्हीं समाधिको प्राप्त धीर वीर मुनियोंकी पवित्र यादगारमें उनके समाधिस्थानके तौरपर ये ५०१ स्तूप एकत्र बनाये जान पड़ते हैं। बाकी १३ स्तूपोंमें एक स्तूप जम्बूस्वामीका होगा और १२ दूसरे मुनिपुंगवोंके। जम्बूस्वामीका निर्वाण यद्यपि इस ग्रन्थ में विपुलाचल पर बताया गया है, फिर भी चूँकि जम्बूस्वामी मथुरामें विहार करते हुए आये थे*, कुछ अर्से तक ठहरे थे और विद्युच्चर आदिके जीवनको पलटनेवाले उनके खास गुरु थे, इसलिए साथमें उनकी भी यादगारके तौरपर उनका स्तूप बनाया गया है। हो सकता है कि ये १३ स्तूप उसी स्थान पर हों जिसपर आजकल चौरासीमें जम्बूस्वामीका विशाल मंदिर बना हुआ है और ५०१ स्तूपोंका समूह कंकाली टीलेके स्थानपर (या उसके संनिकट प्रदेशमें) हो, जहांसे बहुतसी जैनमूर्तियाँ तथा शिलालेख आदि निकले हैं। पुरातत्वज्ञों द्वारा इस विषयकी अच्छी खोज होनेकी जरूरत है। जैनविद्वानों तथा श्रीमानोंको इसके लिए खास परिश्रम करना चाहिये।

कविवरकी दृष्टिमें शाह अकबर—

कविवर राजमल्लजी शाह अकबरके राज्यकालमें हुए हैं और कुछ वर्ष तक अकबरकी राजधानी आगरामें भी रहे हैं, जिसे अर्गलदुर्गके नामसे भी उल्लेखित किया गया है, और इससे उन्हें दिल्लीपति अकबर-

---

* विजहर्थ ततो भूमौ श्रितो गन्धकुटीं जिनः।
मगधादिमहादेशमथुरादिपुरीस्तथा ॥१२-११६॥
कुर्वन् धर्मोपदेशं स केवलज्ञानलोचनः।
वर्षाष्टादशपर्यन्तं स्थितस्तत्र जिनाधिपः ॥-१२०॥
ततो जगाम निर्वाणं केवली विपुलाचलात्।
कर्माष्टकविनिर्मुक्तः शाश्वतानन्तसौख्यभाक् ॥-१२१॥

को कुछ निकटसे देखनेका भी अवसर प्राप्त हुआ है। आप अकबरको बड़ी ऊंची दृष्टिसे देखते थे और उसे अद्भुत उदयको प्राप्त तथा दयालु-के रूपमें पाते थे। आपकी नज़रमें अकबर नामका ही अकबर नहीं था, बल्कि गुणोंमें भी अकबर (महान्) था, और इसलिये यह उसकी सार्थक संज्ञा थी*—'जलालदीन' नाम तथा 'ग़ाज़ी' उपपदसे भी उसका उल्लेख किया गया है। अकबरकी राज्यव्यवस्था कैसी थी और उसकी प्रजा कितनी सुखी थी, इसका कुछ अनुभव वैराटनगरके उस वर्णनसे भले प्रकार हो सकता है जो कविवरने लाटीसंहिताके ४८ काव्योंमें किया है और जिसका कुछ संक्षिप्त सार ऊपर लाटीसंहिताके निर्माण-स्थानके वर्णन (पृष्ठ २६) में दिया जाचुका है। जब राज्यका एक नगर इतना सुव्यवस्थित और सुखसमृद्धिसे पूर्ण था तब स्वयं राजधानीका नगर आगरा कितना सुव्यवस्थित और सुखसमृद्धिसे पूर्ण होगा, इसकी कल्पना विज्ञ पाठक स्वयं कर सकते हैं। कविवरने तो, आगरा नगरका संक्षेपतः वर्णन करते हुए और उसे 'नगराऽधिपाऽधिपति' तथा 'समस्तवस्त्वाकर' बतलाते हुए, सांकेतिकरूपमें इतना ही कह दिया है कि—'राजनीतिके महामार्गको छोड़कर जो लोग उन्मार्गगामी या अमार्गगामी थे उनका निग्रह होनेसे—राजनीतिके विरुद्ध उनकी प्रवृत्तिके छूटजानेसे—और साधुवर्गोंका वहाँ संग्रह होनेसे वह नगर 'सारसंग्रह' के रूपमें है। अकबर बादशाहके यशरूपी चन्द्रमासे दिन दिन वृद्धिको प्राप्त हुए 'महासमुद्र'स्वरूप इस नगरोंके सरताज (राजा) आगरेका वर्णन मैं कैसे करूं ? :—

"राजनीतिमहामार्गादुत्पथाऽपथगामिनाम् ।
निग्रहात्साधुवर्गाणां संग्रहात्सारसंग्रहम् ॥४२॥

* अथास्ति दिल्लीपतिरद्भुतोदयो दयान्वितो बब्बर-नन्द-नन्दनः ।
अकब्बरः श्रीपदशोभितोऽभितो न केवलं नामतयार्थतोऽपि यः ॥५॥
—जम्बूस्वामिचरित

"राज्ञो यशः शशाङ्केन वर्द्धमानं दिनं दिनम् ।
वर्णयामि कथं चैनं नगरेशं महार्णवम् ॥४४॥

—प्रथम सर्ग

इस परसे यह सहजमें ही समझा जा सकता है कि अकबर राजनीतिका कितना भारी पण्डित था, उसको अमली जामा पहनानेमें कितना दक्ष था और साथ ही प्रजाकी सुख-समृद्धिकी ओर उसका कितना लक्ष्य था। 'जज़िया' करको उठा देना, जिससे हिन्दू पिसे जारहे थे, और शराबको बन्द कर देना भी उसकी राजनैतिक दूरदृष्टिता तथा प्रजाहितके कार्य थे। शराबबन्दीके अकबर उद्देश्यको व्यक्त करते हुए कविवरने साफ लिखा है कि—'शराबसे प्रमत्तधी (पागल) हुआ मनुष्य प्रमादमें पड़कर कुधर्मवर्गोंमें प्रवृत्त होता है, इसलिये वह पापकी कारण है—प्रजामें पापों (गुनाहों)की वृद्धि करनेवाली है—इसीसे उसको बन्द किया गया है*।'

लाटीसंहितामें वैराटनगरका वर्णन करनेके अनन्तर अकबरकी 'चगत्ता' (चगताई) जाति और उसके पितामह 'बाबर' बादशाह तथा पिता 'हुमायूँ' बादशाहका कीर्तन करके अकबरके विषयमें जो दो काव्य दिये हैं वे इस प्रकार हैं :—

तत्पुत्रोऽजनि सार्वभौमसदृशः प्रोद्यत्प्रतापानल-
ज्वालाजालमतल्लिकाभिरभितः प्रज्वालितारिव्रजः ।
श्रीमत्साहिशिरोमणिस्त्वकबरो निःशेषशेषाधिपैः
नानारत्नकिरीटकोटिघटितः स्रग्भिः श्रितांह्रिद्वयः ॥६१॥
श्रीमड्डिंडीरपिण्डोपमितमितनभः पाण्डुराखण्डकीर्त्या-
कृष्टं ब्रह्माण्डकाण्डं निजभुजयशसा मण्डपाडम्बरोऽस्मिन् ।

* देखो, पूर्वमें (पृ० ३८ पर) उद्धृत जम्बूस्वामिचरितके प्रथम सर्गका पद्य नं० २६ ।

येनाऽसौ पातिसाहिः प्रतपदकबरप्रख्यविख्यातकीर्ति-
र्जीयाद्भोक्ताथ नाथः प्रभुरिति नगरस्यास्य वैराटनाम्नः ॥६२॥

इनमें अकबरको सार्वभौम-सदृश—चक्रवर्ती सम्राट्के समान—तथा शाहशिरोमणि बतलाते हुए लिखा है—'कि उसके बढ़ते हुए प्रतापानलकी ज्वालाओंसे शत्रुसमूह सब ओरसे भस्म होगया है और जो राजा अवशेष रहे हैं उन सबकी मालाओं तथा रत्नजडित मुकुटोंसे उसके चरण सेवित हैं। उसकी कीर्ति अखण्ड है, समुद्रफेनके समान धवल है, आकाशके समान विशाल है और उसके द्वारा इस (वैराट) नगरमें ब्रह्माण्डकाण्ड (विश्वका बहुत बड़ा समूह) खिंच आया है।' साथ ही, उस विख्यात-कीर्ति प्रतापी अकबरको वैराट नगरका भोक्ता, नाथ और प्रभु बतलाते हुए उसे जयवन्त रहनेका आशीर्वाद दिया गया है।

जम्बूस्वामिचरितमें तो मंगलाचरणके अनन्तर ही ५वें पद्यसे ३१वें पद्य तक अकबरका स्तवन किया गया है, जिसमें उसकी जाति, वंश और पूर्वजोंके वर्णनके साथ-साथ उसकी बाल्यावस्था, युवावस्था तथा चित्तौड़ (चित्रकूट) विजय और सूरतके दुर्जयदुर्गसहित गुजरात-विजयका संक्षिप्त वर्णन भी आगया है। जज़िया करको छोड़ने और शराबबन्दीकी बातका भी इसीमें समावेश है। इस सब वर्णनमें अकबरको अद्भुतोदय, दया-न्वित, श्रीपदशोभित, वरमति, साम्राज्यराजद्वपु, तेजःपुञ्जमय, शशीव दीप्त और विदांवर जैसे विशेषणोंके साथ उल्लेखित किया है। साथ ही, यह भी बतलाया है कि उद्धृत वीरकर्म करते हुए भी उसमें दयालुता स्वाभाविक थी, क्रमसे अथवा युगपत् नवों रसोंके सेवनकी अचिन्त्य शक्ति थी, उसने बन्धुबुद्धिसे प्रजाका उसी तरह पालन किया है जिस तरह कि इन्द्र स्वर्गके देवोंका पालन करता है। उसका 'कर' जगतके लिये दुष्कर नहीं था। किसी भी कारणको पाकर उसे मद नहीं हुआ और 'इसका वध करो' यह वचन तो स्वभावसे ही उसके मुँहसे कहीं निकला नहीं, और इसलिये वह इस

समय सुधर्मराजकी तरह वर्तमान है अथवा उसका राज्य सुधर्मराज्य है।' और अन्तमें अकबरके मान-दानादि असंख्यगुणोंका पूरा स्तवन करनेमें अपनेको असमर्थ बतलाते हुए लिखा है कि—'यह दिग्मात्ररूपसे जो कथन किया है वह उसी प्रकारका है जिस प्रकार कि समुद्रसे अञ्जलिमें जल-ग्रहण किया जाता है। इस वर्णनके कुछ पद्य, जो काव्यरससे भरे हुए हैं, इस प्रकार हैं :—

"अस्ति स्म चाद्यापि विभाति जातिः परा चगत्ताभिधया पृथिव्याम्।
परंपराभूरिव भूपतीनां महान्वयानामपि माननीया ॥६॥
तदत्र जातावपि जातजन्मनः समेकछत्रीकृतदिग्विभूवरान्।
प्रकाशितुं नालमिहानुभूभुजः कवीन्द्रवृंदो लसदिन्दुकीर्तिः॥७॥
अतः कुतश्चित्कृतसाहिसंज्ञकः स माननीयो विधिवद्विपश्चिताम्
यथा कथा बाबर-वंशमाश्रिता प्रकाश्यते सद्भिरथो निरन्तरम्॥८॥

सुश्रीर्बाबरपातिसाहिरभवन्निर्जित्य शत्रून्बलाद्
दिल्लीशोऽपि समुद्रधारिवमनां क्षोणीं कलत्रायताम्।
कुर्वन्नेकबलो दिगंगजमलं क्रीडन् यथेच्छं विभुः
स्याद्भूपालकपालमौलिशिखरस्थायीव स्रग्यद्यशः ॥६॥

तत्पुत्रोऽजनि भानुमानिव गिरेराक्रम्य भूमंडलम्
भूपेभ्यो करमाहरन्नपि धनं यच्छन जनेभ्योऽधिकम्।
उद्गच्छत्स्वकरप्रतापतरसा मात्सर्यमब्धेरधः
प्रजापालतया जहत्स्वमहरन्नाम्ना हुमाऊँ नृपः ॥१०॥

तत्सूनुः श्रियमुद्वहन् भुजबलादेकातपत्रो भुवि
श्रीमत्साहिरकब्बरो वरमनिः साम्राज्यराजद्वपुः।
तेजःपुञ्जमयो ज्वलज्ज्वलनजज्वालाकरालानलः
सर्वारीन् दहति स्म निर्दयमना उन्मूल्य मूलादपि ॥११॥

× × × ×

"गजाश्वपादातिरथादिकेषु यो मंत्रासिदुर्गेन्द्रविशेषु कोटिषु ।
लिलेख लेख्यां भवितव्यताश्रितो बलं स्वसाद्विक्रममात्रसंभवम् ॥१४
लब्धावकाशादथवा प्रसंगाद्यतो हता दुर्जनकिंकराकराः ।
तदत्र नामापि न गृह्यते मया लघुप्रहाणी ननु पौरुषं कियत् ॥१५
अथास्तिकिञ्चिद्यदि चित्रकूटकमुत्स्यातिलेखीकृतचित्रकूटकम् ।
अतोरणस्तम्भमवाप हेलया किमद्भुतं तत्र समानमानतः ॥१६॥
जगर्ज गाजी गुजरातमध्यगो मृगाधिपादप्यधिकः प्रभावतः ।
मदच्युतो वैरिगजस्तदानोमितस्ततो याति पलायमानः ॥१७॥
ततोऽपि धृत्वा गिरिगह्वरादितः श्रिता वधं केचन बन्धनं क्षणात् ।
महाहयो मंत्रबलादिवाहृताः प्रपेतुरापन्निधिसंनिधानके ॥१८॥
न केवलं दिग्विजयेऽस्य भूभृतां सहस्रखण्डैरिह भावितं भृशम् ।
भुवोऽपि निम्नोन्नतमानयानया चलच्चमूभारभरातिमात्रतः ॥१९॥
अपि क्रमात्सूरतिसंज्ञको गिरेरपांनिधेः संनिधितः समत्सरः ।
कदापि केनापि न खण्डितो यतस्ततोऽस्ति दुर्गो बलिनां हि दुर्जयः ॥२०
अनेन सोऽपि क्षणमात्रवेगादनेकखण्डैः कृतजर्जरो जितः ।
विलंघ्य वार्धिं रघुनाथवत्तया परं विशेषः कलिकौतुकादिव ॥२१॥

× × × ×

"तथाविधोऽप्युद्धतवीरकर्मणि दयालुता चाऽस्य निसर्गताऽभवत् ।
क्रमेण युगपन्नवधा रसाः स्फुटमचिन्त्यचित्रा महतां हि शक्तयः ॥२४॥
प्रपालयामास प्रजाः प्रजापतिरखण्डदण्डं यदखण्डमण्डलम् ।
अखण्डलश्चण्डवपुः सुरालयं श्रितामरानेव स बन्धुबुद्धितः ॥२५॥

× × × ×

"वधैनमेतद्वचनं तदास्यतो न निर्गतं क्वापि निसर्गतश्चितिः ।
अनेन तद्यूतमुदस्तमेनसः सधर्मराजः किल वर्ततेऽधुना ॥२८॥

× × × ×

"अशेषत: स्तोतुमलं न मादृशो समानदानादिगुणानसंख्यत: ।
ततोऽस्य दिग्मात्रतयाशितुं क्षमे पयोधितो वा जलमञ्जलिस्थितम्॥३०
चिरं-चिरंजीव चिरायुरायतौ प्रजाशिष: सन्तसमग्रिमाग्रिमम ।
यथाभिनन्दुर्वसुधा सुधाधिपं कलाभिरेनं परया मुदा मुदे ॥३१॥
—जम्बू० प्रथमसर्ग

इस सब कथन परसे स्पष्ट है कि कविकी दृष्टिमें अकबर कितना महान् था और वह अपने गुणोंके कारण कविके हृदयपर कितना अधिकार किये हुए था। अपनी इस महानता और प्रजावत्सलताके कारण ही उसे कविके शब्दोंमें प्रजाके 'चिरं-चिरंजीव' और 'चिरायुरायतौ' जैसे आशीर्वाद निरन्तर बड़ी प्रसन्नताके साथ प्राप्त होते रहते थे।

छन्दोविद्या (पिङ्गल)—

इस ग्रन्थका भी सर्वप्रथम दर्शन मुझे देहलीके एक शास्त्रभण्डारकी प्रतिपरसे हुआ है। सन १९४१ के शुरूमें मैंने इसका प्रथम परिचय 'अनेकान्त'के पाठकोंको दिया था और उस समय इसकी दूसरी प्रति खोजनेकी खास प्रेरणा भी की थी। परन्तु दूसरे शास्त्रभण्डारोंमें इसकी कोई प्रति उपलब्ध नहीं होरही है—मुनिश्री पुण्यविजयजी पाटन(गुजरात) आदिको लिखकर श्वेताम्बर शास्त्रभण्डारोंमें भी खोज कराई गई किन्तु कहीं भी इस ग्रन्थके अस्तित्वका पता नहीं चला। अतः देहलीको कविराजमल्लके दूसरे दो ग्रन्थों (लाटीसंहिता और जम्बूस्वामिचरित) की तरह इस ग्रन्थकी भी सुरक्षाका श्रेय प्राप्त है। और इसलिये ग्रन्थका परिचय देनेसे पहले मैं इस ग्रन्थप्रतिका परिचय करा देना उचित समझता हूँ। यह ग्रन्थप्रति देहलीके पंचायती मन्दिरमें मौजूद है। इसकी पत्र-संख्या सिली हुई पुस्तकके रूपमें २८ है, पहले पत्रका प्रथम पृष्ठ खाली है, २८ वें पत्रके अन्तिम पृष्ठपर तीन पंक्तियाँ हैं—उसके शेष भागपर किसीने बादको छन्दविषयक कुछ नोट कर रक्खा है और मध्यके १८ वें पत्रके प्रथम

पृष्ठपर लिखते समय १७वें पत्रके द्वितीय पृष्ठकी छाप लग जानेके कारण वह खाली छोड़ा गया है। पत्रकी लम्बाई ८½ और चौड़ाई ५½ इंच है। प्रत्येक पृष्ठपर प्रायः २० पंक्तियाँ है, परन्तु कुछ पृष्ठोंपर २१ तथा २२ पंक्तियाँ भी हैं। प्रत्येक पंक्तिमें अक्षर-संख्या प्रायः १४ से १८ तक पाई जाती है, जिसका औसत प्रति पंक्ति १६ अक्षरोंका लगानेसे ग्रन्थकी श्लोक-संख्या ५५० के करीब होती है। यह प्रति देशी रफ कागजपर लिखी हुई है और बहुत कुछ जीर्ण-शीर्ण है, सील तथा पानीके कुछ उपद्रवोंको भी सहे हुए है, जिससे कहीं कहीं स्याही फैल गई है तथा दूसरी तरफ फूट आई है और अनेक स्थानोंपर पत्रोंके परस्परमें चिपक जानेके कारण अक्षर अस्पष्टसे भी हो गये हैं। हालमें नई सूचीके वक्त जिल्द बँधालेने आदिके कारण इसकी कुछ रक्षा होगई है। इस ग्रंथप्रति पर यद्यपि लिपिकाल दिया हुआ नहीं है, परन्तु वह अनुमानतः दोसौ वर्षसे कमकी लिखी हुई मालूम नहीं होती। यह प्रति 'महम' नामके किसी ग्रामादिकमें लिखी गई है और इसे 'स्यामराम भोजग' ने लिखाया है; जैसा कि इसकी "महममध्ये लिखावितं स्यामरामभोजगा॥" इस अन्तिम पंक्तिसे प्रकट है।

कविवरकी मौलिक कृतियोंके रूपमें जिन चार ग्रन्थोंका अभी तक परिचय दिया गया है वे सब संस्कृत भाषामें हैं; परन्तु यह ग्रंथ संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी इन चार भाषाओंमें है, जिनमें भी प्राकृत और अपभ्रंश प्रधान हैं और उनमें छन्दशास्त्रके नियम, छन्दोंके लक्षण तथा उदाहरण दिये हैं; संस्कृतमें भी कुछ नियम, लक्षण तथा उदाहरण दिये गये हैं और ग्रन्थके प्रारम्भिक सात पद्य तथा समाप्ति-विषयक अन्तिम पद्य भी संस्कृत भाषामें हैं, शेष हिन्दीमें कुछ उदाहरण हैं और कुछ उदाहरण ऐसे भी हैं जो अपभ्रंश तथा हिन्दीके मिश्रितरूप जान पड़ते हैं। इस तरह इस ग्रन्थ परसे कविवरके संस्कृत भाषाके अतिरिक्त दूसरी भाषाओंमें रचनाके अच्छे नमूने भी सामने आजाते हैं और उनसे

आपकी काव्यप्रवृत्ति एवं रचनाचातुर्य आदि पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

छन्दोविद्याका निदर्शक यह पिङ्गलग्रन्थ राजा भारमल्लके लिये लिखा गया है, जिन्हें 'भारहमल्ल' तथा कहीं कहीं छन्दवश 'भारू' नामसे भी उल्लेखित किया गया है और जो लोकमें उस समय बहुत बड़े व्यक्तित्वको लिये हुए थे। छन्दोंके लक्षण प्रायः भारमल्लजीको सम्बोधन करके कहे गये हैं, उदाहरणोंमें उनके यशका खुला गान किया गया है और इससे राजा भारमल्लके जीवन पर भी अच्छा प्रकाश पड़ता है—उनकी प्रकृति, प्रवृत्ति, परिणति, विभूति, सम्पत्ति, कौटुम्बिक स्थिति और लोक-सेवा आदिकी कितनी ही ऐतिहासिक बातें सामने आजाती हैं। और इस तरह राजा भारमल्लका कुछ खण्ड इतिहास मिल जाता है, जो कविवर राजमल्ल जैसे विद्वान्की लेखनीसे लिखा होनेके कारण कोरा कवित्व न होकर कुछ महत्त्व रखता है। इससे विद्वानोंको दूसरे साधनों परसे राजा भारमल्लके इतिहासकी और और बातोंको खोजने तथा इस ग्रन्थपरसे उपलब्ध हुई बातों पर विशेष प्रकाश डालनेके लिये प्रोत्साहन मिलेगा और इस तरह राजा भारमल्लका एक अच्छा इतिहास तय्यार होसकेगा।

कविवरने, अपनी इस रचनाका सम्बन्ध व्यक्त करते हुए, मंगला-चरणादिकके रूपमें जो सात संस्कृत पद्य शुरूमें दिये हैं वे इस प्रकार हैं:—

केवलकिरणदिनेशं प्रथमजिनेशं दिवानिशं वंदे।
यज्ज्योतिषि जगदेतद्व्योम्नि नक्षत्रमेकमिव भाति ॥१॥

जिन इव मान्या वाणी जिनवरवृषभस्य या पुनः फणिनः।
वर्णादिबोधवारिधि-तराय पोतायते तरां जगतः ॥२॥

आसीन्नागपुरीयपक्षनिरतः साक्षात्तपागच्छमान्।
सूरिः श्रीप्रभुचन्द्रकीर्तिरवनौ मूर्द्धाभिषिक्तो गणी।
तत्पट्टे त्विह मानसूरिरभवत्तस्यापि पट्टेऽधुना
संमत्राडिव राजते सुरगुरुः श्रीहर्ष(र्ष)कीर्तिर्महान् ॥३॥

श्रीमच्छ्रीमालकुले समुदयदुदयाद्रिदेवद[त्त]स्य।
रविरिव रौंक्यांणकुले त्यदीपि भूपालभारमल्लाह्वः ॥४॥
भूपतिरितिमुविशेषणमिदं प्रसिद्धं हि भारमल्लस्य।
तत्किं संघाधिपतिर्वणिजामिति वक्ष्यमाणेपि ॥५॥
अन्येद्युः कुतुकोल्वणानि पठता छंदांसि भूयांसि भो
सूनोः श्रीसुरसंज्ञकस्य पुरतः श्रीमालचूडामणेः।
ईपत्तस्य मनीषितं स्मितमुखात्संलक्ष्य पद्मान्मया
दिग्मात्रादपि नामपिङ्गलमिदं धार्ष्ट्याद्युपक्रम्यते ॥६॥
चित्रं महद्यदिह मान-धनो यशस्ते
छंदोमयं नयति यत्कविराजमल्लः।
यद्वाद्रयोपि निजसारमिह द्रवन्ति
पुण्याद्योमयतनोस्तव भारमल्ल ॥७॥

इनमेंसे प्रथम पद्यमें प्रथमजिनेन्द्र (आदिनाथ) को नमस्कार किया गया है और उन्हें 'केवलकिरणदिनेश' बतलाते हुए लिखा है कि 'उनकी ज्ञानज्योतिमें यह जगत् आकाशमें एक नक्षत्रकी तरह भासमान है।' अपनी लाटीसंहिताके प्रथम पद्यमें तीर्थंकर महावीरको नमस्कार करते हुए भी कविवरने यही भाव व्यक्त किया है, जैसा कि उसके "यच्चिचति विश्वमशेषं व्यदीपि नक्षत्रमेकमिव नभसि" इस उत्तरार्धसे प्रकट है। साथ ही, उसमें महावीरका विशेषण 'ज्ञानानन्दात्मानं' लिखकर ज्ञानके साथ आनन्दको भी जोड़ा है। लाटीसंहिताके प्रथम पद्यमें छंदोविद्याके प्रथम पद्यका जो यह साहित्यिक संशोधन और परिमार्जन दृष्टिगोचर होता है उससे ऐसी ध्वनि निकलती हुई जान पड़ती है कि, कविकी यह कृति लाटीसंहिताके कुछ पूर्ववर्तिनी होनी चाहिये * बशर्ते कि लाटीसंहिताके निर्माणसे पूर्व नागपुरीय-तपागच्छके भट्टारक हर्षकीर्ति पट्टारूढ़ हो चुके हों।

* लाटीसंहिताका निर्माणकाल आश्विनशुक्ला दशमी वि० सं० १६४१ है।

दूसरे पद्यमें प्रथम जिनेन्द्र श्रीवृषभ(आदिनाथ)की वाणीको जिनदेवके समान ही मान्य बतलाया है, और फणीकी वाणीको अक्षरादिबोधसमुद्रसे पार उतरनेके लिये नौकाके समान निर्दिष्ट किया है।

तीसरे पद्यमें यह निर्देश किया है कि आजकल हर्षकीर्ति नामके साधु सम्राट्की तरह राजते हैं, जो कि मानसूरि † के पट्टशिष्य और उन श्रीचंद्रकीर्तिके प्रपट्टशिष्य हैं जो कि नागपुरीय पक्ष (गच्छ) के साक्षात् तपागच्छी साधु थे।

चौथे-पाँचवें पद्योंमें बतलाया है कि—श्रीमालकुलमें देवदत्तरूपी उदयाचलके सूर्यकी तरह भूपाल भारमल्ल उदयको प्राप्त हुए और वे राँक्याणों—राक्याणगोत्रवालों*—के लिये खूब दीप्तमान् हुए हैं। भारमल्लका 'भूपति (राजा)' यह विशेषण सुप्रसिद्ध है, वे वणिक संघके अधिपति हैं।

छठे पद्यमें, अपनी इस रचनाके प्रसंगको व्यक्त करते हुए, कविजी लिखते हैं कि—'एक दिन मैं श्रीमालचूडामणि देवपुत्र (राजा भारमल्ल) के सामने बहुतसे कौतुकपूर्ण छंद पढ़ रहा था, उन्हें पढ़ते समय उनके

---

† पूरा नाम 'मानकीर्ति' सूरि है। ये भट्टारक वैशाख-शुक्ला सप्तमी सं० १६३३ से पहले ही पट्टारूढ़ हो चुके थे; क्योंकि इस तिथिको इनके शिष्य मुनि अमीपालने सिन्दूरप्रकरण ग्रन्थकी एक प्रति अपने लिये लिखाई है; जैसाकि उसकी निम्न प्रशस्तिसे प्रकट है—

"संवत १६३३ वर्षे वैशाखमासे शुक्लपक्षे सप्तम्यां तिथौ शुक्रवारे लेखक-पाठकयोः शुभं भवतु। तैलाद्'' 'पुस्तिका। श्रीमन्नागपुरीय-तपागच्छाधिराज-भट्टारक-श्रीमानकीर्तिसूरि-सूरिपुरंदराणां शिष्येण मुनिना अमीपालेन स्वाध्ययनाय लिखापिता इब्राहिमाबादे।" (देखो, अमृतलाल मगनलाल शाहका 'प्रशस्तिसंग्रह' द्वि० भा० पृ० १३२।

* वक्खाणिए गोत विक्खात राक्याणि एतस्स ॥१६८॥

मुखकी मुस्कराहट और दृष्टिकटाक्ष (आँखोंके संकेत) परसे मुझे उनके मनका भाव कुछ मालूम पड़ गया, उनके उस मनोभिलाषको लक्ष्यमें रखकर ही दिग्मात्ररूपसे यह नामका 'पिंगल' ग्रन्थ धृष्टतासे प्रारम्भ किया जाता है।'

सातवें पद्यमें कविवर अपने मनोभावको व्यक्त करते हुए लिखते हैं—

'हे भारमल्ल ! मान-धनका धारक कविराजमल्ल यदि तुम्हारे यशको छंदोबद्ध करता है तो यह एक बड़े ही आश्चर्यकी बात है। अथवा आप तेजोमय शरीरके धारक हैं, आपके पुण्यप्रतापसे पर्वत भी अपना सार बहा देते हैं।'

इस पिछले पद्यसे यह साफ ध्वनित होता है कि कविराजमल्ल उस समय एक अच्छी ख्याति एवं प्रतिष्ठाप्राप्त विद्वान् थे, किसी क्षुद्र स्वार्थके वश होकर कोई कवि-कार्य करना उनकी प्रकृतिमें दाखिल नहीं था, वे सचमुच राजा भारमल्लके व्यक्तित्वसे—उनकी सत्प्रवृत्तियां एवं सौजन्यसे—प्रभावित हुए हैं, और इसीसे छंदशास्त्रके निर्माणके साथ साथ उनके यशको अनेक छंदोंमें वर्णन करनेमें प्रवृत्त हुए हैं।

यहाँ एक बात और भी जान लेनेकी है और वह यह कि, तीसरे पद्यमें जिन 'हर्षकीर्ति' साधुका उनकी गुरु-परम्पराके साथ उल्लेख किया गया है वे नागौरी तपागच्छके आचार्य थे, ऐसा 'जैनसाहित्यनो संक्षिप्त इतिहास' नामक गुजराती ग्रन्थसे जाना जाता है। मालूम होता है भारमल्ल इसी नागौरी तपागच्छकी आम्नायके थे, जो कि नागौरके रहनेवाले थे, इसीसे उनके पूर्व उनकी आम्नायके साधुओंका उल्लेख किया गया है। कवि राजमल्लने अपने दूसरे दो ग्रन्थों (जम्बूस्वामिचरित्र तथा लाटीसंहिता) में काष्ठासंघी माथुरगच्छके आचार्योंका उल्लेख किया है, जिनकी आम्नायमें वे श्रावकजन थे जिनकी प्रार्थनापर अथवा जिनके लिये उक्त ग्रंथोंका निर्माण किया गया है। दूसरे दो ग्रंथ (अध्यात्मकमलमार्तण्ड और पंचाध्यायी) चूंकि किसी व्यक्तिविशेषकी प्रार्थनापर या उसके लिये नहीं

लिखे गये हैं ‡ इसलिये उनमें किसी आम्नायविशेषके साधुओंका वैसा कोई उल्लेख भी नहीं है। और इससे एक तत्त्व यह निकलता है कि कवि राजमल्ल जिसके लिये जिस ग्रंथका निर्माण करते थे उसमें उसकी आम्नाय-के साधुओंका भी उल्लेख कर देते थे, अतः उनके ऐसे उल्लेखोंपरसे यह न समझ लेना चाहिये कि वे स्वयं भी उसी आम्नायके थे। बहुत संभव है कि उन्हें किसी आम्नायविशेषका पक्षपात न हो, उनका हृदय उदार हो और वे साम्प्रदायिककट्टरताके पङ्कसे बहुत कुछ ऊंचे उठे हुए हों।

कविराजमल्लने दूसरे ग्रन्थोंकी तरह इस ग्रन्थमें भी अपना कोई खास परिचय नहीं दिया—कहीं कहीं तो 'मल्ल भणइ' 'कविमल्ल कहै' जैसे वाक्यों द्वारा अपना नाम भी आधा ही उल्लेखित किया है। जान पड़ता है कविवर जहाँ दूसरोंका परिचय देनेमें उदार थे वहाँ अपना परिचय देने-में सदा ही कृपण रहे हैं, और यह सब उनकी अपने विषयमें उदासीन-वृत्ति एवं ऊंची भावनाका द्योतक है जिसकी शिक्षा उन्हें 'समयसार' परसे मिली जान पड़ती है—भले ही इसके द्वारा इतिहासज्ञोंके प्रति कुछ अन्याय होता हो।

उक्त सातों संस्कृत पद्योंके अनन्तर प्रस्तावित छन्दोग्रंथका प्रारम्भ निम्न गाथासे होता है :—

‡ पंचाध्यायीके विषयमें इस प्रकारका स्पष्टीकरण ऊपर किया जा चुका है। और अध्यात्मकमलमार्तंडके तृतीय चतुर्थ पद्योंसे प्रकट है कि उसकी रचना मुख्यतः अपने आत्मज्ञानके लिये और अपने आत्मासे संतान-वर्ती मोहको तथा उस सम्यक्चरित्रकी च्युतिको दूर करनेके लिए की गई है जो दर्शन-ज्ञानसे युक्त और मोह-क्षोभसे विहीन होता है। इसके लिये विदधे स्वसंविदे' और 'गच्छत्वध्यात्म-कंज-द्युमणि-परपरा-ख्यापनान्मे चितोऽस्तम्' ये वाक्य खास तौरसे ध्यानमें रखने योग्य हैं।

दीहो संजुत्तवरो बिंदुजुओ यालिओ (?) वि चरणंते।
स गुरू वंकदुमत्तो अण्णो लहु होइ शुद्ध एकअलो ॥८॥

इसमें गुरु और लघु अक्षरोंका स्वरूप बतलाते हुए लिखा है—'जो दीर्घ है, जिसके परभागमें संयुक्त वर्ण है, जो बिन्दु (अनुस्वार-विसर्ग) से युक्त है, ···पादान्त है वह गुरु है, द्विमात्रिक है और उसका रूप वक्र (ऽ) है। जो एकमात्रिक है वह लघु होता है और उसका रूप शुद्ध—वक्रतासे रहित सरल (।)—है।'

इसी तरह आगे छन्दशास्त्रके नियमों, उपनियमों तथा नियमोंके अपवादों आदिका वर्णन ६४ वें पद्य तक चला गया है, जिसमें अनेक प्रकारसे गणोंके भेद, उनका स्वरूप तथा फल, षण्मात्रिकादिका स्वरूप और प्रस्तारादिकका कथन भी शामिल है। इस सब वर्णनमें अनेक स्थलोंपर दूसरोंके संस्कृत-प्राकृत वाक्योंको भी "अन्ये यथा" "अण्णे जहा" जैसे शब्दोंके साथ उद्धृत किया है, और कहीं बिना ऐसे शब्दोंके भी। कहीं कहीं किसी आचार्यके मतका स्पष्ट नामोल्लेख भी किया गया है। जैसे:—

"···पयासिओ पिंगलायरहि ॥२०॥"
"अह चउमत्तह णामं फणिराओ पइगणं भणई···२८"
"एहु कहइ कुरु पिंगलणाग: ···४६।"
"सोलहपए···आ जो जाणइ णाइराइभणियाइं।
सो छंदसत्थकुसलो सव्वकईणं च होइ महणीओ ॥४३॥
आद्या ज्ञयेति मात्राणां पताका पठिता बुधैः।
श्रीपूज्यपादपादाभिम्र्मता हि(ही)ह विवेकिभिः ॥

इससे मालूम होता है कि कविराजमल्लके सामने अनेक प्राचीन छन्दशास्त्र मौजूद थे—श्रीपूज्यपादाचार्यका ग्रालबन वह छन्दशास्त्र भी था जिसे श्रवणबेल्गोलके शिलालेख नं० ४० में उनकी सूक्ष्मबुद्धि (रचनाचातुर्य) को ख्यापित करनेवाला लिखा है—और उन्होंने उन

सबका दोहन एवं आलोडन करके अपना यह ग्रन्थ बनाया है। और इसलिये यह ग्रन्थ अपने विषयमें बहुत प्रमाणिक जान पड़ता है। ग्रन्थके अन्तिम पद्यमें इस ग्रन्थका दूसरा नाम 'छन्दोविद्या' दिया है और इसे राजाओंकी हृदयगंगा, गम्भीरान्तः सौहित्या, जैनसंघाधीश-भारहमल्ल-सम्मानिता, ब्रह्मश्रीको विजय करनेवाले बड़े बड़े द्विजराजोंके नित्य दिये हुए सैंकड़ों आशीर्वादोंसे परिपूर्णा लिखा है। साथ ही, विद्वानोंसे यह निवेदन किया है कि वे इस 'छन्दोविद्या' ग्रन्थको अपने सदनुग्रहका पात्र बनाएँ। वह पद्य इस प्रकार है—

> क्षोणीभाजां हृत्सुरसरिदंभो गंभीरान्तःसौहित्यां
> जैनानां किल संघाधीशैर्भारहमल्लैः कृतसन्मानां।
> ब्रह्मश्रीविजई(यि)द्विजराज्ञां नित्यं दत्ताशीःशतपूर्ण्यां
> विद्वांसः सदनुग्रहपात्रां कुर्वन्त्वेमां छन्दोविद्यां॥

इससे मालूम होता है कि यह ग्रन्थ उस समय अनेक राजाओं तथा बड़े बड़े ब्राह्मण विद्वानोंको भी बहुत पसन्द आया है।

पिङ्गलके पद्योंपरसे राजा भारमल्ल—

जिन राजा भारमल्लके लिये यह पिङ्गल ग्रन्थ रचा गया है वे नागौरी तपागच्छकी अम्नायके एक सद्गृहस्थ थे*, वणिक्संघके अधिपति थे, 'राजा' उनका सुप्रसिद्ध विशेषण था, श्रीमालकुलमें उन्होंने जन्म लिया था, 'रांक्याणि' उनका गोत्र था और वे 'देवदत्त' के पुत्र थे, इतना परिचय ऊपर दिया जा चुका है। अब राजा भारमल्लका कुछ अन्य ऐतिह्य-

* आपके सहयोगसे तपागच्छ वृद्धिको प्राप्त हुआ था, ऐसा निम्न वाक्यसे स्पष्ट जाना जाता है—

> जलणिहि-उवमाणिं श्रीतपानामगच्छिं,
> हिमकर जिम भूया भूपती भारमल्लः ॥२६४॥ (मालिनी)

सिक परिचय भी संक्षेपमें संकलित किया जाता है, जो उक्त पिङ्गलग्रंथपरसे उपलब्ध होता है। साथमें यथावश्यक ऐसे परिचयके कुछ वाक्योंको भी ब्रेकटादिमें उनके छंदनाम-सहित उद्धृत किया जाता है, और इससे पिङ्गल-ग्रन्थमें वर्णित छंदोंके कुछ नमूने भी पाठकोंके सामने आजायँगे और उन परसे उन्हें इस ग्रंथकी साहित्यिक स्थिति एवं रचना-चातुरी आदिका भी कितना ही परिचय सहजमें प्राप्त हो जायगाः—

(१) भारमल्लके पूर्वज 'रंकाराऊ' थे, वे प्रथम भूपाल (राजपूत×) थे, पुनः श्रीमाल थे, श्रीपुरपट्टणके निवासी थे, फिर आबू देशमें गुरुके उपदेशको पाकर श्रावकधर्मके धारक हुए थे, धन-धर्मके निवास थे, संघके तिलक थे और सुरेन्द्रके समान थे। उन्हींकी वंश-परम्परामें धर्मधुरंधर राजा भारमल्ल हुए हैं—

पढमं भूपालं पुणु सिरिमालं सिरिपुरपट्टणवासु,
पुणु आबूदेसिं गुरुउवएसिं सावयधम्मणिवासु।
धणधम्महणिलयं संघहतिलयं रंकाराउ सुरिंदु,
ता वंशपरंर धम्मधुरंधर भारहमल्ल णरिंदु ॥११६॥ (मरहट्टा)

(२) भारमल्लकी माताका नाम 'धरमो' और स्त्रीका नाम 'श्रीमाला' था, इस बातको कविराजमल्ल एक अच्छे अलंकारिक ढंगमें व्याक्त करते हुए 'पंकवाणि' छन्दके उदाहरणमें लिखते हैं—

स्वाति बुंद सुरवर्षे निरंतर, संपुट सीपि धमो उदरंतर।
जम्मो मुक्ताहल भारहमल, कंठाभरण सिरीअवलीवल ॥८७॥

इसमें बतलाया है कि सुर (देवदत्त)वर्षाकी स्वातिबूंदको पाकर धर्मोके उदररूपी सीपसंपुटमें भारमल्लरूपी मुक्ताफल (मोती) उत्पन्न हुआ

× जासु पढमह वंस रजपूत। श्रीरंकवसुधाधिपति जैन, धर्म-चरकमल-दिनकर, तासु वंस राक्याणि सिरी,-मालकुलधुरधुरंधर।…॥१२३॥(रड्डु)

और वह श्रीमाला*का कण्ठाभरण बना। कितनी सुन्दर कल्पना है!

(३) भारमल्लके पुत्रोंमें एकका नाम 'इन्द्रराज' और दूसरेका 'अजयराज' था—

इन्द्रराज इन्द्रावतार जसु नंदनु दिट्ठं,
अजयराज राजाधिराज सब कज्जगरिट्ठं।
स्वामी दास निवासु लच्छिबहु साहिसमाणं,
सोयं भारहमल्ल हेम-हय-कुञ्जर-दानं ॥ १३१ ॥ (रोडक)

इन दोनों पुत्रोंके प्रतापादिका कितना ही वर्णन अनेक पद्योंमें दिया है। और भी लघुपुत्र अथवा पुत्रीका कुछ उल्लेख जान पड़ता है; परन्तु वह अस्पष्ट हो रहा है।

(४) राजा भारमल्ल नागौरमें एक बहुत बड़े कोट्याधीश ही नहीं किन्तु धनकुबेर थे, ऐसा मालूम होता है। आपके घरमें अटूट लक्ष्मी थी, लक्ष्मीका प्रवाह निरन्तर बहता था, सवा लाख प्रतिदिनकी आय थी, देश-

*श्रीमालाके अलावा भारहमल्लकी एक दूसरी स्त्री 'छजू' जान पड़ती है, जो इन्द्रराज पुत्रकी माता थी; जैसा कि उत्तराध्ययनवृत्तिकी निम्न दानप्रशस्ति-से प्रकट है और जिसमें भारहमल्लको 'संघई', उनकी स्त्री छजूको संघवणि और पुत्र इन्द्रराजको संघवी लिखा है। यह भी सम्भव है कि छजू श्रीमाला का ही नामान्तर अथवा मूल नाम हो; परन्तु ग्रन्थमें (त्रिभंगी छंदके उदाहरणमें) 'मत सौकि मुनावहु' जैसे वाक्य-द्वारा श्रीमालाकी सौतका संकेत होनेसे यह सम्भावना कुछ कम जान पड़ती है:—

"श्रीमत् नृप विक्रमतः संवत् १६३६ वर्षे पातिसाह श्री अकबरराज्ये श्री बइराटनगरे श्रीमालज्ञातीय संघइ भारहमल। तत् भार्या संघवणि छजू तत् पुत्ररत्न संघवी इन्द्राराजेन स्वपुण्यार्थं वृत्तिरियं विहरापिता। गणिचरित्रोदयानां चिरं नन्दतु॥"—उक्त प्रशस्तिसंग्रह द्वि०भाग पृ०१२६

देशान्तरोंमें लाखोंका व्यापार चलता था। साँभरकी झील, और अनेक भू-पर्वतोंकी खानोंके आप अधिपति थे। सम्भवतः टकसाल भी आपके हाथमें थी। आपके भण्डारमें पचास करोड़ सोनेका टका—अशर्फियाँ मौजूद मानी जाती थीं। दानके भी आप पूरे धनी थे। अकबर बादशाह आपका सम्मान करता था, इतना ही नहीं बल्कि आपकी आन तक मानता था, और इसीसे आप धन तथा प्रतिष्ठामें अकबरके समान ही समझे जाते थे। इन सब बातोंके आशयको लिये हुए अनेक पद्य विविध छंदोंके उदाहरणोंमें पाये जाते हैं। दो चार पद्योंको यहाँ नमूनेके तौर पर उद्धृत किया जाता है—

"रांक्याणिपसिद्धो लच्छिसमिद्धो भूपति भारहमल्लं,
धम्मह उक्किट्ठउ दाणगरिट्ठउ दिट्ठउ राणा(?)अरिउरसल्लं।
वरवंसह बब्बर साहि अकब्बर सब्बरकियसम्माणं,
हिंदू तुरिकाणा तउरिं गाणा रीया माणहि आणं॥११७(गरिट्ठ)

"कोडिय पंच मुकाति लियो बहु देस निरग्गल,
सांभर सर डिडवान अवनि टकसार समग्गल।
भू-भूधर-दर-उदर खनित अगणित धनसंगति,
देवतनय सिरिमाल सुजस भारहमल भूपति॥१२६॥" (वस्तु)

"अयं भारमल्लो सिरीमालवंसि,
गृहे मासई लच्छि कोटी सहस्सं।
सवालक्ख टंका उवड भानुमित्ती,
सिरीमाहिमम्माणिया जासु कित्ती॥१६८॥" (भुजंगप्रयात)

"नागौरदेसम्हि संघाधिनाथो सिरीमाल,
राक्याणिवंसि सिरी भारमल्लो महीपाल।
साकुंभरीनाथ थप्पौ सिरी साहि संमाणि,
राजाधिराजोवमा चक्कवट्टी महादाणि॥१७०॥ (गजानंद)

"देवदत्तकुलकमलदिवाकर सुजसु पयासियं,
सिरीमालवरवंस अवनिपत्ति पुहमि विकासियं।
सांभरि सर डिंडवान सकलधर खानि बखाणियं,
भारहमल्ल विमलगुण अकबरसाहि समाणियं॥१७२॥(गिंदुक)
जासु [य] वुट्ठि होइ णवणिधि घर कामिणि कणक-कुंजरं,
मंगल गीत विनोद चिचिह परि दुंदुहिसद सुन्दरं।
सवालक्ख उप्पजइ दिनप्रति तेत्तियं दिनदानियं,
भारमल्ल सब साहसिरोमणि साहिअकब्बरमाणियं॥१७४(दुवई)
"तौ मानियहि भंडार, टंका कोडि पचास जइ, कलधौतमयं।
लाखनिसहु व्योहार, तो कविजन सेवक अहव, देचतणमयं १६६
(चूलिकाचारण छंद)

(५) जिन स्थानोंसे राजा भारमल्लको विपुल धन-सम्पत्तिकी प्राप्ति होती थी उनका उल्लेख 'मालाधर' छंदके उदाहरणमें निम्न प्रकारसे किया गया है—

चरणयुग-सेविका मनहु दासी साकुंभरी ते
अखिल यहु चेटिका सरस डीडवाना पुरी।
अवनि अनुकूलिया द्रविण-मोल-लीया नगा,
निखिलमिय जस्स सो जयउ भारमल्लो णिओ॥२७१॥

(६) राजा भारमल्लके रोजाना खर्चका मोटा लेखा लगाते हुए जो 'छप्पय'छंदका उदाहरण दिया है वह निम्न प्रकार है, और उससे मालूम

ते साकुम्भरी, डीडवानापुरी और मुकातसर इन तीन स्थानों पर तीन टकसालें भी थीं ऐसा सुन्दरी छंदके निम्न उदाहरणसे प्रकट है:—

डिडिवान मुकातासर मांहियं साकुम्भरि सों टकसार तयं।
णि भारहमल्लं अरिउरसल्लं मांहि मनाखत किन्तिमयं॥

होता है कि राजा भारमल्ल (श्रीमतन) पचास हजार टका प्रतिदिन बादशाह (अकबर) के खजानेमें दाखिल करते थे, पचास हजार टका मजदूरों तथा नौकरोंको बाँटते थे और पचीस हजार टका उनके पुत्र-पौत्रादिकोंका प्रतिदिनका खर्च था—

स्वालक्ख उग्गवइ भानु तह आनु गणिज्जइ,
टंका सहस पचास साहि भंडारु भरिज्जइ।
टंका सहस पचास रोज जे करहिं मसक्कति,
टंका सहस पचीस सुतनुसुत खरचु दिन-प्रति।
सिरिमाल वंस संघाधिपति बहुत बढे सुनियत श्रवण।
कुलतारण भारहमल्ल-सम कौन बढउ चढिहै कवण ॥१२८॥

(७) राजा भारमल्ल अच्छी चुनी हुई चतुरंग सेना रखते थे, जिसमें उनकी हाथियोंकी सेनाको घूमती हुई गंधहस्तियोंकी सेना लिखा है—

"घुम्मंतगंधगयवरसेना इय भारमल्लस्स ॥१७८॥

(८) राजा भारमल्लकी जोड़का कोई दूसरा ऐसा वणिक (व्यापारी) शायद उस समय (अकबरके राज्यमें) मौजूद नहीं था जो बड़भागी होनेके साथ साथ विपुल लक्ष्मीसे परिपूर्णगृह हो, करुणामय प्रकृतिका धारक हो और नित्य ही बहुदान दिया करता हो। आपका प्रभाव भी बहुत बढ़ा चढ़ा था, अकबर बादशाहका पुत्र राजकुमार (युवराज) भी आपके दरबारमें मिलनेके लिये आता था और सूचना भेजकर इस बातकी प्रतीक्षामें रहता था कि आप आकर उसकी 'जुहारु' (सलाम) कबूल करें। इन दोनों बातोंको कविवरने दोहा और सोरठा छंदोंके उदाहरणोंमें निम्न प्रकारसे व्यक्त किया है। पिछली बात ऐसे रूपमें चित्रित की गई है जैसे कविवरकी स्वयं आँखों-देखी घटना है—

"बड़भागी घर लच्छि बहु, करुणामय दिनदान।
नहिं कोउ वसुधावधि वणिक, भारहमल्ल-समान १८८॥" (दोहा)

"ठाढ़े तो दरबार, राजकुँवर वसुधाधिपति।
लीजे न-इकु जुहारु, भारमल्ल सिरिमालकुल १६४॥" (सोरठा)

(६) इस ग्रन्थमें राजा भारमल्लको श्रीमालचूडामणि, साहिशिरोमणि, शाहसमान, उमानाथ, संघाधिनाथ, दारिद्रधूमध्वज, कीर्तिनभचन्द्र, देव-तरुसुरतरु, श्रेयस्तरु, पतितपावन, पुण्यागार, चक्री-चक्रवर्ती, महादानी, महामति, करुणाकर, रोरुहर, रोरु-भी-निकन्दन, अकबरलक्ष्मी-गौ-गोपाल, जिनवरचरणकमलानुरक्त और निःशल्य जैसे विशेषणोंके साथ स्मरण किया गया है और उनका खुला यशोगान करते हुए प्रशंसामें—उनके दान-मान प्रतापादिके वर्णनमें—कितने ही पद्य अनेक छंदोंके उदाहरण-रूपसे दिये हैं। यहाँ उनमेंसे भी कुछ पद्योंको नमूनेके तौर पर उद्धृत किया जाता है। इससे पाठकोंको राजा भारमल्लके व्यक्तित्वका और भी कितना ही परिचय तथा अनुभव प्राप्त हो सकेगा। साथ ही, इस छंदो-विद्या-ग्रन्थके छंदोंके कुछ और नमूने भी उनके सामने आजायँगे:—

अवणिउवण्णा पादप रे, वदनरवण्णा पंकज रे।
चरणगवण्णा गजपति रे, नैनसुरंगा सारंग रे।
तनुरुहचंगा मोरा रे, वचनअभंगा कोकिल रे।
तरुणि-पियारा बालक रे, गिरिजठरविदारा कुलिसं रे।
आरेकुलसंघारा रघुपति रे, हम नैनहु दिट्ठा चंदा रे।
दानगरिट्ठा विक्रम रे, मुख चवै सुमिट्ठा अमृत रे॥१०७॥

न न पादप-पंकज-गजपति-सारंग-मोरा-कोकिल-बाल-तुलं,
न न कुलिसं रघुपति चंदा नरपति अमृत किमुत सिरीमालकुलं।
बकसै गजराजि गरीबनिवाज अवाज सुराज विराजतु है,
संघपत्ति सिरोमणि भारहमल्लु विरद्दु भुवप्पति गाजतु है (पोमावती)

इन पद्योंमें राजा भारमल्लको पादप, पंकज, गजपति सारंग (मृग) मोर, कोकिल, बालक, कुलिश (वज्र), रघुपति, चंद्रमा, विक्रमराजा और

अमृतसे, अपने अपने विषयकी उपमामें, बढ़ा हुआ बतलाया है—अर्थात् यह दर्शाया है कि ये सब अपने प्रसिद्ध गुणोंकी दृष्टिसे राजा भारमल्लकी बराबरी नहीं कर सकते।

बलि-वेणि-विक्रम-भोज-रविसुत-परसराम-समंचिया,
हय-कनक-कुंजर-दान-रस-जसवेलि अहनिसि सिंचिया।
तब समय सतयुग समय त्रेता समय द्वापर गाइया,
अब भारमल्ल कृपाल कलियुग कुलहँ कलश चढ़ाइया ॥(हरिगीत)

यहाँ राजा बलि, वेणि, विक्रम, भोज, करण और परशुरामके विषयमें यह उल्लेख करते हुए कि उन्होंने घोड़ों, हाथियों तथा सोनेके दानरूपी रससे यश-बेलको दिनरात सिंचित किया था, बतलाया है कि—उनका वह समय तो सत्युग, त्रेता तथा द्वापरका था; परन्तु आज कलियुगमें कृपालु राजा भारमल्लने उन राजाओंके कीर्तिकुलगृह पर कलश चढ़ा दिया है—अर्थात् दानद्वारा सम्पादित कीर्तिमें आप उनसे भी ऊपर होगये हैं—बढ़ गये हैं।

सिरिमाल सुवंसो पुहमि पसंसो संघनरेसुर धम्मधुरो,
करुणामयचित्तं परमपवित्तं हीरविजे गुरु जासु वरो।
हय-कुंजर-दानं गुणिजन-मानं कित्तिसमुद्दह पार थई,
दिनदीन दयालो वयणरसालो भारहमल्ल सुचक्कवई ॥ (सुन्दरी)

इसमें अन्य सुगम विशेषणोंके साथ भारमल्लके गुरुरूपमें हीरविजयसूरिका उल्लेख किया है, भारमल्लकी कीर्तिका समुद्र पार होना लिखा है और उन्हें 'सुचक्रवर्ती' बतलाया है।

मण्णो विहिणा घडियो, कोविह एगो वि ।वस्ससव्वगु ।ुकाय।
सिरिमालभारमल्लो, एं माणसथंभो णरगव्वहरणाय ॥ (स्कंध)

यहाँ कविवर उत्प्रेक्षा करके कहते हैं कि 'मैं ऐसा मानता हूँ कि विधाता ने यदि विश्वके सर्वगुण-समूहको लिये हुए कोई व्यक्ति घड़ा है तो

वह श्रीमाल भारमल्ल है, जो कि मनुष्योंके गर्वको हरनेके लिये 'मानस्तभ' के समान है।'

सिरिभारमल्लदिणमणि-पायं सेवंति एयमणा।
तेसिं दरिद्दतिमिरं णियमेण विणस्सदे सिग्घं ॥१५६॥(विग्गाहा)

इसमें बतलाया है कि 'जो एकमन होकर भारमल्लरूपी दिनमणि (सूर्य) की पादसेवा करते हैं उनका दरिद्रान्धकार नियमसे शीघ्र दूर होजाता है।

प्रहसितवदनं कुसुमं सुजसु सुगंधं सुदानमकरंदं।
तुव देवदत्तनंदन धावति कविमधुपसेणि मधुलुद्धा॥ (उग्गाहा)

यहाँ यह बतलाया है कि—'देवदत्तनन्दन-भारमल्लका प्रफुल्लित मुख ऐसा पुष्प है जो सुयश-सुगंध और सुदानरूपी मधुको लिये हुए है, इसीसे मधुलुब्ध कवि-भ्रमरोंकी पंक्ति उसकी ओर दौड़ती है—दानकी इच्छासे उसके चारों ओर मँडराती रहती है।

खाण† सुलितान मसनंद हदभुम्मिया,
सज्ज-रह-वाजि-गज-राजि मदघुम्मिया।
तुज्झ दरबार दिनरत्ति तुरगा णया,
देव सिरिमालकुलनंद करिए मया॥२६१॥ (निशिपाल)

इसमें खान, सुलतान, मसनद और सजे हुए रथ-हाथी-घोड़ोंके उल्लेखके साथ यह बतलाया है कि राजा भारमल्लके दरबारमें दिनरात तुरक लोग आकर नमस्कार करते थे—उनका ताँतासा बंधा रहता था।

एक सेवक संग साहि भँडार कोडि भरिज्जिए,
एक कित्ति पढंत भोजिग दान दाइम दिज्जिए।
भारमल्ल-प्रताप-वण्णण सेसणाह असक्कओ,
एकजीहमओ अमारिस केम होइ ससक्कओ॥२७४॥ (चच्चरी)

---

† ग्रन्थ-प्रतिमें अनेक स्थानोंपर 'ख' के स्थानपर 'ष' का प्रयोग पाया जाता है तदनुसार यहाँ 'षाण' लिखा है।

इस पद्यमें भारमल्लके प्रतापका कीर्तन करनेमें अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए लिखा है कि—'एक नौकरको साथ लेकर एक करोड़ तककी रकम शाहके भंडारमें भरदी जाती थी—मार्गमें रकमके छीन लिये जाने आदिका कोई भय नहीं! और एक कीर्ति पढ़ने वाले भोजकीको दायिमी (स्थायी) दान तक दे दिया जाता था—ऐसा करते हुए कोई संकोच अथवा चिन्ता नहीं! (ये बातें भारमल्लके प्रतापकी सूचक हैं)। भारमल्लके प्रतापका वर्णन करनेके लिये (सहस्रजिह्व) शेषनाग भी असमर्थ है, हमारे जैसा एक जीभवाला कैसे समर्थ हो सकता है?'

अब छन्दोंके उदाहरणोंमें दिये हुए संस्कृत पद्योंके भी कुछ नमूने लीजिये, और उनपरसे भी राजा भारमल्लके व्यक्तित्वादिका अनुमान कीजिये :—

अयि विधे! विधिवत्तव पाटवं यदिह देवसुतं सृजत स्फुटं।
जगति सारमयं करुणाकरं निखिलदीनसमुद्धरणक्षमं ॥(द्रुतविलं०)

'हे विधाता! तेरी चतुराई बड़ी व्यवस्थित जान पड़ती है, जो तूने यहाँ देवसुत-भारमल्लकी सृष्टि की है, जो कि जगतमें सारभूत है, करुणाकी खानि है और सम्पूर्ण दीनजनोंका उद्धार करनेमें समर्थ है।'

मन्ये न देवतनुजो मनुजोऽयमेव,
नूनं विधेरिह दयार्दितचेतसो वै।
जैवित्त (जीवत्व ?) हेतुवशतो जगती-जनानां,
श्रेयस्तरुः फलितवानिव भारमल्लः ॥२५६॥ (वसंततिलक)

यहाँ कविवर उत्प्रेक्षा करके कहते हैं कि—'मैं ऐसा मानता हूँ कि यह देवतनुज भारमल्ल मनुज नहीं है, बल्कि जगतजनोंके जीवनार्थ विधाताका चित्त जो दयासे आर्द्रित हुआ है उसके फलस्वरूप ही यह 'कल्याणवृक्ष' यहाँ फला है—अर्थात् भारमल्लका जन्म इस लोकके

वर्तमान मनुष्योंको जीवनदान देने और उनका कल्याण साधनेके लिये विधाताका निश्चित विधान है।'

सत्यं जाड्यतमोहरोऽपि दिनकृज्जन्तोर्दृशोरप्रिय-
श्चन्द्रस्तापहरोऽपि जाड्यजनको दोषाकरोंशुक्षयी।
निर्दोषः किल भारमल्ल! जगतां नेत्रोत्पलानंदकृ-
च्चन्द्रेणोष्णकरेण संप्रति कथं तेनोपमेयो भवान् ॥२७६॥ (शार्दूल)

'यह सच है कि सूर्य जडता और अंधकारको हरनेवाला है; परन्तु जीवोंकी आँखोंके लिये अप्रिय है—उन्हें कष्ट पहुँचाता है। इसी तरह यह भी सच है कि चन्द्रमा तापको हरनेवाला है; परन्तु जड़ता उत्पन्न करता है, दोषाकर है (रात्रिका करनेवाला अथवा दोषोंकी खान है) और उसकी किरणें क्षयको प्राप्त होती रहती हैं। भारमल्ल इन सब दोषोंसे रहित है, जगज्जनोंके नेत्रकमलोंको आनन्दित भी करने वाला है। इससे हे भारमल्ल! आप वर्तमानमें चन्द्रमा और सूर्यके साथ उपमेय कैसे हो सकते हैं? आपको उनकी उपमा नहीं दी जा सकती—आप उनसे बढ़े चढ़े हैं।'

अलं विदितसंपदा दिविज-कामधेन्वाह्वयैः,
कृतं किल रसायनप्रभृतिमंत्रतंत्रादिभिः।
कुतश्चिदपि कारणादथ च पूर्णपुण्योदयात्,
यदीह सुरनंदनो नयति मां हि दृग्गोचरं ॥२६१॥ (पृथ्वी)

'किसी भी कारण अथवा पूर्णपुण्यके उदयसे यदि देवसुत भारमल्ल मुझे अपनी दृष्टिका विषय बनाते हैं तो फिर दिव्य कामधेनु आदिकी प्रसिद्ध सम्पदासे मुझे कोई प्रयोजन नहीं और न रसायण तथा मंत्रतंत्रादि-से ही कोई प्रयोजन है—इनसे जो प्रयोजन सिद्ध होता है उससे कहीं अधिक प्रयोजन अनायास ही भारमल्लकी कृपादृष्टिसे सिद्ध हो जाता है।'

क्षितिपतिकृतसेवं यस्य पादारविन्दं,
निजजन-नयनालीभृंगभोगाभिरामं ।
जगति विदितमेतद्भूरिलक्ष्मीनिवासं,
स च भवतु कृपालोऽप्येष मे भारमल्लः ॥२६५॥ (मालिनी)

'जिनके चरणकमल भूपतियोंसे सेवित हैं और स्वकीयजनोंकी दृष्टि-पंक्तिरूपी भ्रमरोंके लिये भोगाभिराम हैं, और जो इस, जगतमें महालक्ष्मी-के निवासस्थान हैं, ऐसे ये भारमल्ल मुझपर 'कृपाल' होवें ।'

पिछले दोनों पद्योंसे मालूम होता है कि कविराजमल्ल राजाभारमल्ल-की कृपाके अभिलाषी थे और उन्हें वह प्राप्त भी थी । ये पद्य मात्र उसके स्थायित्वकी भावनाको लिये हुए हैं ।

(१०) जब राजा भारमल्ल इतने बढ़े चढ़े थे तब उनसे ईर्षाभाव रखनेवाले और उनकी कीर्ति-कौमुदी एवं ख्यातिको सहन न करनेवाले भी संसारमें कुछ होने ही चाहियें; क्योंकि संसारमें अदेखसका भावकी मात्रा प्रायः बढ़ी रहती है और ऐसे लोगोंसे पृथ्वी कभी शून्य नहीं रही जो दूसरोंके उत्कर्षको सहन नहीं कर सकते तथा अपनी दुर्जन-प्रकृतिके अनुसार ऐसे बढ़े चढ़े सज्जनोंका अनिष्ट और अमंगल तक चाहते रहते हैं । इस सम्बन्धमें कविवरके नीचे लिखे दो पद्य उल्लेखनीय हैं, जो उक्त कल्पनाको मूर्तरूप दे रहे हैं :—

"जे वेस्सवग्गमणुआ रीसिं कुव्वंति भारमल्लस्स ।
देवेहि वंचिया खलु अभगाऽवित्ता णरा हुंति ॥१५८॥"(गाहा)

"चिंतंति जे वि चित्ते अमंगलं देवदत्तणयस्स ।
ते सव्वलोयदिट्ठा णट्ठा पुरदेसलच्छिभुम्मिपरिचत्ता ॥(गाहिनिया)

पहले पद्यमें बतलाया गया है कि—'वैश्यवर्गके जो मनुष्य भारमल्ल की रीस करते हैं—ईर्षाभावसे उनकी बराबरी करते हैं—वे दैवसे ठगाये गये अथवा भाग्यविहीन हैं; ऐसे लोग अभागी और निर्धन होते हैं ।'

दूसरे पद्यमें यह स्पष्ट घोषित किया है कि—'जो चित्तमें भी देवदत्तपुत्र-भारमल्लका अमंगल चिन्तन करते हैं वे सब लोगोंके देखते-देखते पुर, देश, लक्ष्मी तथा भूमिसे परित्यक्त हुए नष्ट हो गये हैं।' इस पद्यमें किसी खास आँखोंदेखी घटनाका उल्लेख संनिहित जान पड़ता है। हो सकता है कि राजा भारमल्लके अमंगलार्थ किन्होंने कोई षड्यन्त्र किया हो और उसके फलस्वरूप उन्हें विधि(दैव)से अथवा बादशाह अकबरके द्वारा देशनिर्वासनादिका ऐसा दण्ड मिला हो जिससे वे नगर, देश, लक्ष्मी और भूमिसे परिभ्रष्ट हुए अन्तको नष्ट होगये हों।

उपसंहार—

इस प्रकार यह कविराजमल्लके 'पिंगलग्रन्थ', ग्रन्थकी उपलब्धप्रति और राजा भारमल्लका संक्षिप्त परिचय है। मैं चाहता था कि ग्रन्थमें आए हुए छंदोंका कुछ लक्षण-परिचय भी पाठकोंके सामने तुलनाके साथ रक्खूं परन्तु यह देखकर कि प्रस्तावानाका कलेवर बहुत बढ़ गया है और इधर इस पूरे ग्रन्थको ही अब वीरसेवामंदिरसे प्रकाशित कर देनेका विचार हो रहा है, उस इच्छाको संवरण किया जाता है।

इस परिचयके साथ कविराजमल्लके सभी उपलब्ध ग्रन्थोंका परिचय समाप्त होता है। इन ग्रन्थोंमें कविराजमल्लका जो कुछ परिचय अथवा इतिवृत्त पाया जाता है उस सबको इस प्रस्तावनामें यथास्थान संकलित किया गया है। और उसका सिंहावलोकन करनेसे मालूम होता है कि:—

कविवर काष्ठासंघी माथुरगच्छी पुष्करगणी भट्टारक हेमचन्द्रकी आम्नायके प्रमुख विद्वान हैं। जम्बूस्वामिचरितको लिखते समय (वि० सं० १६३२में) वे आगरामें स्थित हैं, युवावस्थाको प्राप्त हैं दो एक वर्ष पहले मथुराकी एक दो बार यात्रा कर आए हैं और वहांके जीर्ण-शीर्ण तथा उनके स्थान पर नवनिर्मित जैन स्तूपोंको देख आए हैं, जैनागम-ग्रन्थोंके अच्छे अभ्यासी हैं, आध्यात्मिक ग्रन्थोंके अध्ययनसे उनका आत्मा ऊंचा उठा

हुआ है, वे धार्मिक भावनाओंसे प्रेरित हैं, परोपकारके लिये बद्धकक्ष अथवा कृतसंकल्प हैं और जम्बूस्वामिचरितकी रचनाके बहाने अपने आत्माको पवित्र करनेमें लगे हुए हैं। साथ ही, गद्य-पद्य-विद्याके विशारद हैं, काव्यकलामें प्रवीन हैं और उनका कोई अच्छा कविकार्य पहलेसे जनताके सामने आकर पसन्द किया जा चुका है; इसीसे मथुरामें जैनस्तूपोंकी प्रतिष्ठाके समय(सं० १६३१ में) उनसे जम्बूस्वामिचरितके रचनेकी खासतौर पर प्रार्थना की गई है। आगरामें रहते हुए, मथुरा-जैनस्तूपोंका जीर्णोद्धार करानेवाले अग्रवालवंशी गर्गगोत्री साहु टोडरका उन्हें सदाश्रय तथा सत्संग प्राप्त है और उन्हींके निमित्तको पाकर वे कृष्णामंगल चौधरी और गढमल्ल साहु जैसे कुछ बड़े राज्याधिकारियों तथा सज्जनपुरुषोंके निकट परिचयमें आए हुए हैं। साथ ही अकबर बादशाहके प्रभावसे प्रभावित है, मंगलाचरणके अनन्तर ही उनका स्तवन कर रहे हैं, उनके राज्यको सुधर्मराज्य मान रहे हैं और उनकी राजधानी आगरा नगरको 'सारसंग्रह' के रूपमें देख रहे हैं।

आगरासे चलकर कविवर नागौर पहुँचे हैं, वहाँ श्रीमालज्ञातीय संघाधिपति (संघई) राजाभारमल्लके व्यक्तित्वसे बहुत प्रभावित हुए हैं, उनके दान-सम्मान तथा सौजन्यमय व्यवहारने उन्हें अपनी ओर इतना आकृष्ट कर लिया है कि वे अपने व्यक्तित्वको भी भूल गये हैं। एक दिन राजा भारमल्लको बहुतसे कौतुकपूर्ण छंद सुनाकर वे उनके विनोदमें भाग ले रहे हैं और उनकी तदनुकूल रुचिको पाकर उनके लिये 'पिङ्गल' नामके एक गंगाजमुनी छन्दशास्त्रकी रचना कर रहे हैं, जो प्रायः उसी कौतुकपूर्ण मनोवृत्ति तथा विनोदमय शरीरको लिये हुए है और जिसमें अनेक अतिशयोक्तियों एवं अलंकारोंके साथ राजा भारमल्लका खुला यशोगान किया गया है और इस यशोगानको करते हुए वे स्वयं ही उसपर अपना आश्चर्य व्यक्त कर रहे हैं और उसे भारमल्लके व्यक्तित्वका प्रभाव बतला रहे हैं।

नागौरसे किसी तरह विरक्त होकर कविवर स्वयं ही वैराट नगर पहुँचे हैं और उसे देखकर बड़े प्रसन्न हुए हैं। यह नगर उनको बहुत पसन्द ही

नहीं आया बल्कि सब प्रकारसे अपने अनुकूल जँचा है। इसीसे वे अन्तको यहीं स्थित हो गये हैं और यहाँके अतीव दर्शनीय वैराट-जिनालयमें रहने लगे हैं, जहाँ संभवतः काष्ठासंघी भट्टारक क्षेमकीर्ति-जैसे कुछ जैन मुनि उस समय निवास करते थे और जो अक्सर जैन साधुओंकी निवासभूमि बना रहता था। यहाँ उन्हें मुनिजनोंके सत्समागम तथा ताल्हू जैसे विद्वान्‌की गोष्ठीके अलावा अग्रवालवंशी मंगलगोत्री साहु फामनका सत्सहाय एवं सत्संग प्राप्त है, उनके दान-मान-आसनादिकसे वे सन्तुष्ट हैं और उन्हींकी प्रार्थनापर उन्हींके जिनालयमें स्थित होकर एक सत्कविके रूपमें लाटीसंहिता-की रचना कर रहे हैं। इस रचनाके समय (वि० सं० १६४१ में) उनकी लेखनी पहलेसे अधिक प्रौढ तथा गंभीर बनी हुई है, उनका शास्त्राभ्यास तथा अनुभव बहुत बढ़ाचढ़ा नज़र आता है और वे सरल तथा मृदूक्तियों-द्वारा युक्तिपुरस्सर लिखनेकी कलामें और भी अधिक कुशल जान पड़ते हैं। लाटीसंहिताका निर्माण करते हुए उनके हृदयमें पंचाध्यायी नामसे एक ऐसे '**ग्रन्थराज**' के निर्माणका भाव घर किये हुए है जिसमें धर्मका सरल तथा कोमल उक्तियों द्वारा सबके समझने योग्य विशद तथा विस्तृत विवेचन हो। और उसे पूरा करनेके लिये वे संभवतः लाटीसंहिताके अनन्तर ही उसमें प्रवृत्त हुए जान पड़ते हैं, जिसके फलस्वरूप ग्रन्थके प्रायः दो प्रकरणोंको वे लिख भी चुके हैं। परन्तु अन्तको दैवने उनका साथ नहीं दिया, और इसलिये कालकी पुकार होते ही वे अपने सब संकल्पोंको बटोरते हुए उस **ग्रन्थराजको** निर्माणाधीन-स्थितिमें ही छोड़कर स्वर्ग सिधार गये हैं!! अध्यात्मकमलमार्तण्डको वे इससे कुछ पहले बना चुके थे, और वह भी उनके अन्तिम जीवनकी रचना जान पड़ती है।

इसके सिवाय, आगरा पहुँचनेसे पहलेके उनके जीवनका कोई पता नहीं। यह भी मालूम नहीं कि वे आगरा कबसे कब तक ठहरे, कहाँ कहाँ होते हुए नागौर पहुँचे तथा इस बीचमें साहित्यसेवाका कोई दूसरा काम उन्होंने किया या कि नहीं। और न उन बातोंका ही अभी तक कहींसे कोई

पता चला है जिन्हें प्रस्तावनाके पृष्ठ ३४ पर नोट किया गया है, अतः ये सब विद्वानों के लिये खोजके विषय हैं। संभव है इस खोजमें कविवरके और भी किसी ग्रन्थरत्नका पता चल जाय।

यहाँ पर मैं इतना और भी प्रकट कर देना चाहता हूँ कि कुछ विद्वान 'रायमल्ल' नामसे भी हुए हैं, जिन्हें कहीं कहीं 'राजमल्ल' भी लिखा है; जैसे (१) हुंबड़ ज्ञातीय वर्णी रायमल्ल, जिन्होंने वि० सं० १६६७ में भक्तामर स्तोत्रकी साधारण संस्कृत टीका लिखी है। और (२) मूलसंघी भट्टारक अनन्तकीर्तिके शिष्य ब्रह्म रायमल्ल, जिन्होंने वि० सं० १६१६में 'हनुमान-चौपई' और सं० १६३३में 'भविष्यदत्त कथा' हिन्दीमें लिखी है। ये ग्रन्थकार अपने साहित्यादिकपरसे लाटीसंहितादि उक्त पाँचों मूल ग्रन्थोंके कर्ता कविराजमल्लसे तथा समयसारनाटककी निर्दिष्ट हिन्दीटीकाके कर्ता पांडे(पं०) राजमल्लसे भी बिल्कुल भिन्न हैं। इसी तरह संवत् १६१५में पं० पद्मसुन्दरके द्वारा निर्मित 'रायमल्लाभ्युदय' नामका काव्यग्रन्थ जिन 'रायमल्ल'के नामाङ्कित किया गया है उनका भी 'कविराजमल्ल'के साथ कोई मेल नहीं है—वे हस्तिनागपुरके निकटवर्ती चरस्थावर (चरथावल) नगरके निवासी गोइलगोत्री अग्रवाल 'साहु रायमल्ल' हैं; जो दो स्त्रियोंके स्वामी थे, पुत्र-कुटुम्बादिकी विपुल सम्पत्तिसे युक्त थे और उन्होंने श्रीपद्मसुन्दरजीसे उक्त चतुर्विंशतिजिनचरित्रात्मक काव्यग्रन्थका निर्माण कराया है। और इसलिये कविराजमल्लके ग्रन्थों तथा उनके विशेष परिचयकी खोजमें नामकी समानता अथवा सदृशताके कारण किसीको भी धोखेमें न पड़ना चाहिये—साहित्यकी परख (अन्तःपरीक्षण), रचनाशैलीकी जाँच, पारस्परिक तुलना और संघ तथा आम्नाय आदिका ठीक सम्बन्ध मिलाकर ही कविराजमल्लके विषयका कोई निर्णय करना चाहिये।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा
ता० ११-१-१६४५

जुगलकिशोर मुख्तार

सम्पादकीय

—+*****+—

(१) सम्पादन और अनुवाद—

आजसे कोई सतरह साल पहले मुख्तार श्री पं० जुगलकिशोर जीने 'कवि राजमल्ल और पंचाध्यायी' शीर्षक अपने लेखमें इस 'अध्यात्मकमलमार्तण्ड' ग्रन्थके उपलब्ध होनेकी सूचना की थी, जिससे इसके प्रति जनताकी जिज्ञासा बढ़ी थी। उसके कोई नौ वर्ष बाद (विक्रम सं० १९९३ में) यह ग्रन्थ पं० जगदीशचन्द्रजी शास्त्री, एम० ए० द्वारा संशोधित होकर माणिकचन्द दि० जैन ग्रन्थ-मालामें 'जम्बूस्वामीचरित' के साथ प्रकाशित हुआ था।

ग्रन्थकी भाषा संस्कृत होनेके साथ साथ प्रौढ और दुरूह होनेके कारण शायद ही कुछ लोगोंका ध्यान इसके पठन-पाठन और प्रचार-प्रसारकी ओर गया हो। और इस तरह यह महत्वपूर्ण ग्रन्थ सर्वसाधारण अध्यात्म-प्रेमियोंके स्वाध्यायकी चीज नहीं बन सका। और मेरे ख्यालसे प्रायः ग्रन्थगत-दुरूहताके ही कारण इसका अब तक अनुवादादि भी रुका पड़ा रहा। अस्तु,

अन्यत्र कहींसे भी इस ओर प्रयत्न होता हुआ न देख-कर और जनताको इस ग्रन्थ-रत्नके स्वाध्यायसे वञ्चित पाकर वीर-सेवा-मन्दिरने यह उचित और आवश्यक समझा कि अनु-वादादिके साथ इसका एक उपयोगी और सुन्दर संस्करण निकाला जावे। तदनुसार यह कार्य मैंने और सुहृद्वर पं० परमा-नन्दजी शास्त्रीने अपने हाथोंमें लिया और इसे यथासाध्य शीघ्र सम्पन्न किया; परन्तु प्रेस आदि कुछ अनिवार्य कारणोंके वश यह कार्य इससे पहले प्रकाशमें न आ सका। अब यह पाठकोंके हाथोंमें जा रहा है, यह प्रसन्नताकी बात है।

(२) प्रति-परिचय—

यद्यपि इस ग्रन्थकी लिखित प्रति कोशिश करनेपर भी हमें प्राप्त न हो सकी। और इस लिये उक्त ग्रन्थमालामें मुद्रित प्रतिके आधारपर ही अपना अनुवाद और सम्पादनका कार्य करना पड़ा। इस प्रतिकी आधारभूत दो प्रतियोंका परिचय भी पं० जगदीशचन्द्रजी शास्त्रीने कराया है, जो वि०सं० १६६३ और वि० सं० १८४४ की लिखी हुई हैं और जो दोनों ही अशुद्ध बतलाई गई हैं। प्रस्तुत संस्करणकी आधारभूत उक्त छपी प्रतिमें भी कितनी ही अशुद्धियाँ पाई जाती हैं। इनका संशोधन प्रस्तुत संस्करणमें अर्थानुसन्धानपूर्वक यथासाध्य अपनी ओरसे कर दिया गया है और उपलब्ध अशुद्ध पाठको फुटनोटमें दे दिया गया है, जिससे पाठकगण उससे अवगत हो सकें।

(३) प्रस्तुत संस्करण-परिचय—

'अध्यात्मकमलमार्तण्ड' जितना महत्वपूर्ण ग्रन्थ है शायद उतना सुन्दर यह संस्करण नहीं बन सका। फिर भी इस संस्करणमें मूल विषयको पाठ-शुद्धिके साथ अर्थ और भावार्थके द्वारा स्पष्ट करनेका भरसक प्रयत्न किया गया है। इसके अलावा फुटनोटोंमें ग्रन्थान्तरोंके कहीं कहीं कुछ उद्धरण भी दे दिये गये हैं। प्रस्तावना, विषयानुक्रमणिका और पद्यानुक्रमणी आदिकी भी संयोजना की गई है। और इन सबसे यह संस्करण बहुत कुछ उपयोगी बन गया है।

अन्तमें अपने सहृदय पाठकोंसे निवेदन है कि इस अनुवादादिमें कहीं कोई त्रुटि रह गई हो तो वे हमें सूचित करनेकी कृपा करें, जिससे अगले संस्करणमें उसका सुधार हो सके।

वीर-सेवा-मन्दिर,
सरसावा (सहारनपुर)
ता० ४-६-१६४४

दरबारीलाल
(न्यायाचार्य)

अध्यात्म-कमल-मार्तण्डकी

विषयानुक्रमणिका

—*०::०*—

श्रीस्याद्वादानवद्य-विद्याविशारद-विद्वन्मणि-कवि-राजमल्लविरचित-

अध्यात्मकमलमार्तण्ड

[सानुवाद]

प्रथम परिच्छेद

—*:०:*—

मंगलाचरण और प्रतिज्ञा

प्रणम्य भावं विशदं चिदात्मकं समस्त-तत्त्वार्थ-विदं स्वभावतः ।
प्रमाण-सिद्धं नय-युक्ति-संयुतं विमुक्त-दोषावरणं समन्ततः ॥१॥
अनन्तधर्मं समयं ह्यतीन्द्रियं कुवादिवादाप्रहतस्वलक्षणम् ।
ब्रुवेऽपवर्गप्रणिधेतुमद्भुतं* पदार्थतत्त्वं भवतापशान्तये ॥२॥
(युग्मम)

अर्थ—जो स्वभावसे ही सर्वपदार्थोंका ज्ञायक है, प्रमाणसे सिद्ध है, नय और युक्तिसे निर्णीत है, सर्व प्रकारके दोषों—रागद्वेष-मोहादिकों—तथा ज्ञानावरणादि आवरणोंसे मुक्त है, अत्यन्त निर्मल है और चैतन्यस्वरूप है उस भावको—शुद्ध आत्मस्वभावरूप

* 'ब्रुवेऽपवर्गस्य च हेतुमद्भुतं' इत्यपि पाठः

वीतराग परमात्माको—नमस्कार करके मैं (राजमल्ल) मोक्ष-प्राप्ति तथा भव-तापकी शान्तिके लिये—संसारमें होनेवाले मोहादिजन्य परिणामोंकी समाप्तिके लिये—अनन्तधर्मवाले उस समयका—आत्मद्रव्यका—वर्णन करता हूँ जो अतीन्द्रिय है—चक्षुरादि इन्द्रियों-से गम्य नहीं है—, जिसका स्वरूप कुवादियोंके प्रवादोंसे अखण्डित है—मिथ्या-मतियोंकी मिथ्या-युक्तियोंसे खण्डनीय नहीं है—और जो अद्भुत पदार्थतत्त्व है—अनेकप्रकारकी विचित्रताओंको लिये हुए है।

भावार्थ—चिदात्मक शुद्ध आत्मस्वभावरूप परमात्माको नमस्कार करके मैं सांसारिक संतापको शान्त करने और शाश्वत निराकुलतात्मक मोक्षको प्राप्त करनेके लिये अनन्त धर्मात्मक अतीन्द्रिय और अभेदस्वरूप जीव-तत्त्वका मुख्यतः कथन करता हूँ। साथ ही, गौणरूपसे अजीवादि शेष पदार्थों तथा तत्त्वोंका भी वर्णन करता हूँ।

नमोऽस्तु तुभ्यं जगदम्ब भारति
प्रसादपात्रं कुरु मां हि किङ्करम् ।
तव प्रसादादिह तत्त्वनिर्णयं
यथास्वबोधं विदधे स्वसंविदे ॥३॥

अर्थ—हे जगन्माता सरस्वति ! मैं तुम्हें सादर प्रणाम करता हूँ, मुझ सेवकको अपनी प्रसन्नताका पात्र बनाओ—मुझपर प्रसन्न होओ. मैं तुम्हारी प्रसन्नतासे ही इस ग्रन्थमें जीवादि-तत्त्वोंका निर्णय अपनी बुद्धिके अनुसार आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये करता हूँ।

भावार्थ—मैं इस ग्रन्थकी रचना लोकमें ख्याति, लाभ तथा पूजादिकी प्राप्तिकी दृष्टिसे नहीं कर रहा हूँ। किन्तु इसमें साक्षात् तो

आत्मज्ञानकी प्राप्ति और परम्परासे दूसरोंको बोध कराना ही मेरा एक विशुद्ध लक्ष्य है। अतः हे लोकमाता जिनवाणी! तुम मुझपर प्रसन्न होओ, जिससे मैं इस ग्रन्थके निर्माण-कार्यको पूरा करनेमें समर्थ होऊँ।

ग्रन्थके निर्माणमें ग्रन्थकारका प्रयोजन—

मोहः सन्तानवर्ती भव-वन-जलदो द्रव्यकर्मौघहेतु—
स्तत्त्वज्ञानप्रमूर्तिर्वमनमिव खलु श्रद्धानं* न तत्त्वे।
मोह-क्षोभप्रमुक्ता[दृ]दृगवगम-युतात्सच्चारित्राच्च्युतिश्च
गच्छत्वध्यात्मकञ्जद्युमणिपरपरिख्यापनान्मे चितोऽस्तम्॥४॥

अर्थ—जो सन्ततिसे चला आरहा है—बीज-वृक्षादिकी तरह अनादिकालसे प्रवर्तमान है, भवरूपी वनको सिंचन करनेवाला जलद है—उसे बढ़ानेके लिये मेघ-स्वरूप है, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म-समूहका कारण है, तत्त्वज्ञानका विघातक मूर्तरूप है—हिताहितविवेकका साक्षात् विनाश करनेवाला है—और वमनके समान तत्त्वमें श्रद्धाको उत्पन्न नहीं होने देता। ऐसा वह मोह, और मोह-क्षोभसे विहीन तथा सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञानसे युक्त जो सम्यक्चारित्र, उससे जो च्युति होरही है वह, इस तरह ये दोनों (मोह और रत्नत्रय-च्युति) ही 'अध्यात्मकमलमार्तण्ड' के विशद व्याख्यानसे मेरे चित—आत्मासे अस्तको प्राप्त होवें—दूर होवें।

---

* 'श्रद्धानं न तत्त्वे' इत्यपि पाठः। † 'सच्चारित्राच्च्युता यम' इत्यपि।

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावा—
दविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः।
मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्ते—
र्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूतेः॥ ३ ॥—समयसारकलश

भावार्थ—अनादिकालीन मोह-शत्रुसे संसारके सभी प्राणी भयभीत हैं। मोहसे ही संसार बढ़ता है, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म उत्पन्न होते हैं और उनसे पुनः राग-द्वेष-क्रोध-मान-माया और लोभादि विभावपरिणामोंकी सृष्टि होती है। मोहके रहते हुए जीवको आत्मतत्त्वकी प्रतीति नहीं हो पाती—वह भ्रमवश अपने चिदानन्दस्वरूपसे भिन्न स्त्री-मित्र और धन-सम्पदादि परपदार्थोंमें आत्म-बुद्धि करता रहता है—अपनेसे सर्वथा भिन्न होते हुए भी इन्हें अभिन्न ही समझता है। और इन्हींकी प्राप्ति एवं संरक्षणमें अपनी अमूल्य मानव-पर्यायको यों ही गँवा देता है—आत्मस्वरूपकी ओर दृष्टिपात भी नहीं करपाता। यह सब मोहका विचित्र विलास है। अतः ग्रन्थकार कविवर राजमल्लजी अपनी यह इच्छा व्यक्त करते हैं कि मेरा यह मोह और मोह-क्षोभसे रहित तथा सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञानसे युक्त ऐसे स्वरूपाचरित्रसे जो च्युति हो रही है वह भी इस अध्यात्मकमलमार्तण्डके प्रकाशन एवं परिशीलनसे मेरे आत्मासे विनाशको प्राप्त होवे—मुझे शुद्धरत्नत्रयकी प्राप्ति होवे। आचार्य अमृतचन्द्रने भी समयसारकी टीका करते हुए उसके कलशाके तृतीय पद्यमें समयसारकी व्याख्यासे ख्याति, लाभ और पूजादिकी कोई अपेक्षा न रखते हुए केवल परमविशुद्धिकी—वीतरागताकी—कामना की है: क्योंकि आत्म-परिणति अनादिकर्मबंधसे और मोहकर्मके विपाकसे निरंतर कलुषित रहती है—राग-द्वेषादि-विभाव-परिणतिसे मलिन रहती है। इसी तरह उक्त कलशाका हिन्दी पद्यरूप अनुवाद करनेवाले पं० बनारसीदासजी भी एक पद्यमें परम-शुद्धता-प्राप्तिकी आकांक्षा व्यक्त करते हैं। वह पद्य इस प्रकार है:—

हूँ निश्चय तिहूँकाल शुद्ध चेतनमय-मूरति।
पर-परिणति-संयोग भई जड़ता विस्फुरति॥

मोहकर्म परहेतु पाय, चेतन पर-रच्चय।
ज्यों धतूर-रसपान करत, नर बहुविध नच्चय॥
अब समयसार वर्णन करत परमशुद्धता होहु मुझ।
अनयास बनारसिदास कहि मिटो सहज भ्रमकी अरुझ॥४॥

मोक्षका स्वरूप—

मोक्षः स्वात्मप्रदेशस्थितविविधविधेः कर्मपर्यायहानि-
र्मूलात्तत्कालविचाद्विमलतरगुणोद्भूतिरस्या यथावत्।
स्याच्छुद्धात्मोपलब्धेः परमसमरसीभावपीयूषतृप्तिः
शुक्लध्यानादिभावापरकरणतनोः संवरान्निर्जरायाः॥५॥

अर्थ—अपने आत्मप्रदेशोंके साथ (एक क्षेत्रावगाहरूपसे) स्थित नानाविध ज्ञानावरणादि-कर्मोंका कर्म-पर्यायरूपसे अत्यन्त क्षय होजाना—उनका आत्मासे पृथक् होजाना द्रव्य-मोक्ष है, और इस द्रव्य-मोक्षकालीन आत्मासे जो यथायोग्य विशुद्ध गुणोंका आविर्भाव होता है वह भाव-मोक्ष है, जो कि शुद्धात्माकी उपलब्धिस्वरूप है। इस शुद्धात्माकी उपलब्धि होनेपर ही परम-समतारसरूप अमृतका पान होकर तृप्ति (आत्मसंतुष्टि) होती है। और यह शुद्धात्माकी उपलब्धि शुक्लध्यानादिरूप संवर तथा निर्जरा-से आविर्भूत होती है।

भावार्थ—आगममें मोक्षके द्रव्यमोक्ष और भावमोक्ष ऐसे दो भेदोंका वर्णन करके मोक्षके स्वरूपका कथन किया गया है। उन्हीं दोनों मोक्षोंका स्वरूप यहाँ बतलाया गया है। दूध-पानीकी तरह आत्माके साथ ज्ञानावरणादि आठों कर्म मिले हुए हैं, उनकी

कर्मपर्यायरूपसे आत्यन्तिक निवृत्ति होना तो द्रव्य-मोक्ष है और आत्माके अनन्तज्ञानादि विमल-गुणोंका आविर्भाव होकर स्वात्मोपलब्धि होना भाव-मोक्ष है। इसीको यों कह सकते हैं कि—सामान्यतया स्वात्मोपलब्धिका नाम मोक्ष है, अथवा आत्माकी उस अवस्थाविशेषका नाम मोक्ष है जिसमें सम्पूर्ण कर्ममलकलंकका अभाव हो जाता है और आत्माके समस्त अचिन्त्य स्वाभाविक ज्ञानादिगुण और अव्याबाधसुखगुण प्रकट होजाते हैं†। यह शुद्धात्माकी उपलब्धिरूप मोक्ष कर्मोंके सर्वथा क्षयसे होता है। और कर्मोंके क्षयके कारण संवर और निर्जरा हैं‡। ये संवर और निर्जरा भी गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, चारित्र, तप तथा शुक्लध्यानादिके द्वारा होते हैं—संवरसे तो नूतन कर्मोंका आगमन रुकता है और निर्जरासे संचित कर्मोंका सर्वथा क्षय होता है। इस तरह समस्त कर्मोंके क्षीण होजानेपर आत्मामें अनन्तदर्शन और अनन्तज्ञानादि गुणसमूहकी उद्भूति होती है। और उस समय आत्मा समस्त संकल्प-विकल्परूप मोहजालसे सर्वथा विमुक्त होकर अपने चिदानन्दमय विज्ञानघन स्वभावमें स्थित हो जाता है। यही आत्माकी सबसे परमोत्कृष्ट अवस्था है। और इस परमोत्कृष्ट अवस्थाको प्राप्त करना ही प्रत्येक मुमुक्षु प्राणीका एकमात्र लक्ष्य है। ग्रन्थकारने यहां इसी परमशान्त मोक्षावस्थाका स्वरूप बतलाया है।

† "निरवशेषनिराकृतकर्ममलकलङ्कस्याशरीरस्यात्मनोऽचिन्त्यस्वाभाविकज्ञानादिगुणमव्याबाधसुखमात्यन्तिकमवस्थान्तरं मोक्ष इति।"

—सर्वार्थसिद्धि १-१ (भूमिका)

‡ 'बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः।'

—तत्त्वार्थसूत्र १०-२

व्यवहार और निश्चय मोक्षमार्गका कथन—

सम्यग्दृग्ज्ञानवृत्तं त्रितयमपि युतं मोक्षमार्गो† विभक्ता-
न्मत्वं स्वात्मानुभूतिर्भवति च तदिदं निश्चयात्तत्त्वदृष्टेः ‡।
एतद्द्वैतं च ज्ञात्वा निरुपधि-समये स्वात्मतत्त्वे निलीय
यो निर्भेदोऽस्ति भूयस्स नियतमचिरान्मोक्षमाप्नोति चात्मा॥६

अर्थ—व्यवहारनयसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन तीनोंका ऐक्य मोक्षमार्ग है—कर्मबन्धनसे छूटनेका उपाय है—और वास्तविक अर्थको विषय करनेवाले निश्चय-नयसे सम्यग्दर्शनादित्रयस्वरूप जो स्वानुभूति है वह मोक्षमार्ग है। इस प्रकार व्यवहार और निश्चयरूप मोक्षमार्गकी द्विविधता-को जानकर जो आत्मा उपधिरहित समयमें—विभावपरिणतिके अभावकालमें—स्वकीय आत्मतत्त्वमें लीन होकर अभेदभावरूप परिणत होता है—वह नियमसे शीघ्र ही मोक्षको प्राप्त करता है।

† 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' तत्त्वार्थसूत्र, १-१

सम्मत्तणाणजुत्तं चारित्तं राग-दोस-परिहीणं।
मोक्खस्स हवदि मग्गो भव्वाणं लद्धबुद्धीणं ॥१०६॥
धम्मादीसद्दहणं सम्मत्तं णाणमंगपुव्वगदं।
चिट्ठा तवं हि चरिया ववहारो मोक्खमग्गो त्ति ॥१६०॥

—पंचास्तिकाये, श्रीकुन्दकुन्दाचार्यः

‡ णिच्चयणयेण भणिदो तिहि तेहिं समाहिदो हु जो अप्पा।
ण कुणदि किंचि वि अण्णं ण मुयदि सो मोक्खमग्गो त्ति ॥१६१॥

—पंचास्तिकाये, श्रीकुन्दकुन्दाचार्यः

'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रसमाहित आत्मैव जीव-
स्वभावनियतचरित्रत्वान्निश्चयेन मोक्षमार्गः।'

—पंचास्तिकायटीकायां, अमृतचन्द्राचार्यः

भावार्थ—मोक्षमार्ग दो प्रकारका है—व्यवहार मोक्षमार्ग और निश्चय मोक्षमार्ग। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र इन तीनोंकी एकता व्यवहार मोक्षमार्ग है। और इन तीनों स्वरूप स्वात्मानुभूति निश्चय मोक्षमार्ग है। जो भव्यजीव मोक्षमार्ग-कथनकी इस द्विविधताको जानकर आत्मस्वरूपमें लीन होते हैं और आत्माको पुद्गलादि परद्रव्योंसे सर्वथा भिन्न सच्चिदानन्दमय एक ज्ञायकस्वरूप ही अनुभव करते हैं, वे शीघ्र ही आत्मसिद्धिको प्राप्त होते हैं।

व्यवहारसम्यक्त्वका स्वरूप—

यच्छ्रद्धानं जिनोक्तेरथ नयभजनात्सप्रमाणादबाध्या-
त्प्रत्यक्षाच्चानुमानात् कृतगुणगुणिविनिश्चितियुक्तं गुणाढ्यम्।
तत्त्वार्थानां स्वभावाद् ध्रुवविगमसमुत्पादलक्ष्मप्रभाजां
तत्सम्यक्त्वं वदन्ति व्यवहरणनयाद् कर्मनाशोपशान्तेः ॥७॥

अर्थ—स्वभावसे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यलक्षणको लिये हुए तत्त्वार्थोंका—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वोंका अथवा पुण्य-पापसहित नव पदार्थोंका—जिनेन्द्रभगवानके वचनों (आगम) से, प्रमाणसहित नैगमादि-नयोंके विचारसे, अबाधित (निर्दोष) प्रत्यक्ष तथा अनुमानसे—और कर्मोंके (दर्शनमोहनीय तथा अनन्तानुबन्धी कषायों) के क्षय, उपशम तथा क्षयोपशमसे गुण-गुणीके निर्णयसे युक्त तथा निःशंकितादिगुणोंसे सहित जो श्रद्धान होता है उसे व्यवहार-नयसे सम्यक्त्व कहते हैं—अर्थात् वह व्यवहार सम्यक्त्व है।

भावार्थ—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सप्त तत्त्वोंका अथवा पुण्य-पापसहित नवपदार्थोंका विप-

रीताभिनिवेशरहित और प्रमाण-नयादिके विचारसहित जो श्रद्धान होता है उसे व्यवहार सम्यग्दर्शन कहते हैं*। इन सात तत्त्वोंका उपदेश करनेवाले सच्चे देव, शास्त्र और गुरुका तीनमूढ़ता और अष्टमदसे रहित श्रद्धान करना भी व्यवहार सम्यग्दर्शन है†। इसके तीन भेद हैं—उपशमसम्यक्त्व, २ क्षायिकसम्यक्त्व और ३ क्षायोपशमिकसम्यक्त्व।

१. उपशमसम्यक्त्व—अनादि और सादि मिथ्यादृष्टि जीवके क्रमशः दर्शनमोहनीयकी एक वा तीन और अनन्तानुबंधीकी चार इन पाँच अथवा सात प्रकृतियोंके उपशमसे जो तत्त्वश्रद्धान होता है उसे उपशम सम्यक्त्व कहते हैं। यह सम्यक्त्व क्षायिकके समान ही अत्यन्त निर्मल होता है। जैसे कीचड़ सहित पानीमें कतकफल डाल देनेसे उसकी कीचड़ नीचे बैठ जाती है और पानी स्वच्छ एवं निर्मल हो जाता है उसी प्रकार उक्त पाँच वा सात प्रकृतियोंके उपशमसे जो आत्म-निर्मलता अथवा विमल-रुचि होती है वह उपशम सम्यक्त्व कहलाती है‡।

---

* जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्तव्यम्।
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेशविविक्तमात्मरूपं तत्॥
—पुरुषार्थसिद्ध्युपाये, श्रीअमृतचन्द्रसूरिः

† श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टांगं सम्यग्दर्शनमस्मयम्॥
—रत्नकरण्डश्रावकाचारे, स्वामिसमन्तभद्रः

‡ (क) सप्तप्रकृत्युपशमादौपशमिकसम्यक्त्वं।१। अनंतानुबंधिनः कषायाः क्रोधमानमायालोभाश्चत्वारः चारित्रमोहस्य।
'मिथ्यात्व-सम्यङ्मिथ्यात्व-सम्यक्त्वानि त्रीणि दर्शनमोहस्य।
आसां सप्तानां प्रकृतीनामुपशमादौपशमिकं सम्यक्त्वमिति।'
—तत्त्वार्थरा० २-३

२. क्षायिकसम्यक्त्व— अनन्तानुबंधीकी चार और मिथ्यात्वकी तीन इन सात प्रकृतियोंके सर्वथा क्षयसे जो निर्मल तत्त्व-प्रतीति होती है वह क्षायिक सम्यक्त्व कहलाती है† ।

३. क्षयोपशमिक सम्यक्त्व—अनंतानुबंधि-क्रोध-मान-माया-लोभ और मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व इन ६ प्रकृतियोंमें किन्हींके उपशम और किन्हींके क्षयसे तथा सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयसे जो सम्यक्त्व होता है उसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं‡ ।

निश्चयसम्यग्दर्शनका कथन—

एषोऽहं भिन्नलक्ष्मो दृगवगमचरित्रादिसामान्यरूपो
ह्यन्यद्यत्किंचिदाभाति बहुगुणिगणवृत्तिलक्ष्म परं तत् ।
धर्मं चाधर्ममाकाशसमुखगुणद्रव्यजीवान्तराणि
मत्तः सर्वं हि भिन्नं परपरिणतिरप्यात्मकर्मप्रजाता* ॥ ८ ॥
निश्चित्येतीह सम्यग्विगतसकलदृग्मोहभावः स जीवः
सम्यग्दृष्टिर्भवेन्निश्चयनयकथनात् सिद्धकल्पश्च किंचित् ।

(ख) 'अनंतानुबंधि-क्रोध-मान-माया-लोभानां सम्यक्त्व-मिथ्यात्व-सम्यग्मिथ्यात्वानां च सप्तानामुपशमादुपजातं तत्त्वश्रद्धानं औपशमिकं सम्यक्त्वं ।' —विजयोदया ३१

† 'तासामेव सप्तप्रकृतीनां क्षयादुपजातवस्तु-याथात्म्यगोचरा श्रद्धा क्षायिकदर्शनम् ।' —विजयोदया ३१

‡ 'तासामेव कासांचिदुपशमात् अन्यासां च क्षयादुपजातं श्रद्धानं क्षयोपशमिकम् ।' —विजयोदया ३१

*एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥ —नियमसार

यत्रात्मा स्वात्मतत्त्वे स्तिमितनिखिलभेदैकतानो बभाति
साक्षात्सद्दृष्टिरेवायमथ विगतरागश्च लोकैकपूज्यः ॥ ९ ॥

(युग्मम्)

अर्थ—मैं पुद्गलादि पर-द्रव्योंसे भिन्न लक्षण हूँ—सामान्यतः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्रादि-स्वरूप हूँ। मेरे चैतन्य-स्वरूपसे अन्य जो कुछ भी प्रतिभासित होता है वह सब अनेक गुण-गुणीमें व्याप्त लक्षण वाले पर-पदार्थ हैं। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्य, दूसरे जीवद्रव्य और पुद्गल-द्रव्य भी मेरेसे भिन्न हैं। तथा आत्मा और कर्मके निमित्तसे होनेवाली राग-द्वेष-क्रोध-मान-माया और लोभादिरूप परिणति भी मुझसे भिन्न है।

इस तरह निश्चयकर जिस आत्माका सम्पूर्ण दर्शनमोहरूप परिणाम भले प्रकार नष्ट होगया है वह निश्चयनयसे सम्यग्दृष्टि है। और यदि यह आत्मा समस्त संकल्प-विकल्परूप भेद-जालसे रहित होकर स्वात्म-तत्त्वमें स्थिर होता है तो वह सिद्ध परमात्माके ही प्रायः सदृश है। रागादि-विभाव-भावोंसे रहित यह निश्चयसम्यग्दृष्टि जीव ही वीतराग है और लोकमें अद्वितीय पूज्य है।

भावार्थ—मैं शुद्ध चैतन्य स्वरूप हूँ, ज्ञाता द्रष्टा हूँ। संसारके ये सब पदार्थ मेरी आत्मासे भिन्न हैं, मैं उनका नहीं हूँ और न वे मेरे हैं; क्योंकि वे पर हैं। मेरे ज्ञायक स्वरूपके सिवाय जो भी अन्य पदार्थ देखने जानने या अनुभव करनेमें आते हैं वे मेरी आत्मासे सर्वथा जुदे जुदे हैं। परन्तु यह आत्मा विपरीताभिनि-वेशके कारण उन्हें व्यर्थ ही अपने मान रहा है—स्त्री, पुत्र, मित्र और धन सम्पदादि पर-पदार्थोंमें आत्मबुद्धि कर रहा है। यह

विपरीत कल्पना ही इसके दुःखका मूल कारण है*। परन्तु जब आत्मामें दर्शनमोहका उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम हो जाता है उस समय विवेक-ज्योति जागृत होकर आत्मामें सद्दृष्टिका उदय—आविर्भाव—हो जाता है और वह अपने स्वरूपमें ही लीन हो जाता है। सद्दृष्टिके उदित होते ही वे सब पुरातन संकल्प-विकल्प विलीन हो जाते हैं जो आत्म स्वरूपकी उपलब्धिमें बाधक थे, जिनके कारण स्वस्वरूपका अनुभव करना कठिन प्रतीत होता था और जिनके उदय-वश आत्मा अपने हितकारी ज्ञान और वैराग्यको दुःखदाई अनुभव किया करता था। सद्दृष्टि होनेपर उन रागादि-विभाव-भावोंका विनाश हो जाता है और आत्मा अपने उसी विज्ञानघन चिदानन्दस्वरूपमें तन्मय हो जाता है। यह सब सद्दृष्टिका ही माहात्म्य है।

व्यवहारसम्यग्ज्ञानका स्वरूप—

जीवाजीवादितत्त्वं जिनवरगदितं गौतमादिप्रयुक्तं
वक्रग्रीवादिसूक्तं सदमृतविधुसूर्यादिगीतं यथावत्।
तत्त्वज्ञानं तथैव स्वपरभिदमलं द्रव्यभावार्थदक्षं
संदेहादिप्रमुक्तं व्यवहरणनयात्संविदुक्तं दृगादि ॥१०॥

अर्थ—जो जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष रूप सप्त तत्त्व जिनेन्द्र भगवानके द्वारा कहे गए हैं और गौतमादि गणधरोंके द्वारा प्रयुक्त हुए हैं—द्वादशांगश्रुतरूपमें रचे गए हैं। वक्रग्रीवादि (कुन्दकुन्दादि) आचार्योंके द्वारा प्रतिपादित हैं—और श्रीअमृतचन्द्रादि आचार्योंके द्वारा जिस प्रकार गाए गए हैं, उनका

* मूलं संसारदुःखस्य देह एवात्मधीस्ततः।
—समाधितन्त्रे, श्रीपूज्यपादः

उसीप्रकार तत्त्वज्ञान तथा स्व-परका भेदविज्ञान कराने वाला है। द्रव्य-भावरूप पदार्थके दिखानेमें दक्ष है। संदेहादिसे मुक्त है—संशय, विपर्यय और अनध्यवसायादि मिथ्याज्ञानोंसे रहित है—और सम्यग्दर्शनपूर्वक होता है वह व्यवहारनयसे सम्यग्ज्ञान है—अर्थात् उसे व्यवहार सम्यग्ज्ञान जानना चाहिये।

भावार्थ—नय और प्रमाणोंसे जीवादि पदार्थोंको यथार्थ जानना सम्यग्ज्ञान है* अर्थात् जो पदार्थ जिस रूपसे स्थित है उसका उसी रूपसे परिज्ञान करना सम्यग्ज्ञान कहलाता है। यह सम्यग्ज्ञान ही स्व और परका भेदविज्ञान करानेमें समर्थ है और वस्तुके याथात्म्यस्वरूपको संशय, विपर्यय तथा अनध्यवसाय-रहित जानता है। सम्यग्ज्ञानका ही यह माहात्म्य है कि जिस पूर्वोपार्जित अशुभ कर्मसमूहको अज्ञानी जीव करोड़ों वर्षकी तपश्चर्यासे भी दूर नहीं करपाता उसी कर्म-समूहको ज्ञानी क्षणमात्रमें दूर कर देता है×। तात्पर्य यह कि भेदज्ञानी चैतन्यस्वभावके घातक कर्मोंका नाश क्षणमात्रमें उसी तरहसे कर देता है जिस तरह तृणोंके ढेरको अग्नि जला देती है†। स्व-परके भेदविज्ञान-द्वारा जिन्होंने शुद्धस्वरूपका अनुभव प्राप्त कर लिया है वे ही कर्मबन्धनसे छूट कर सिद्ध हुए हैं। और जो उससे शून्य हैं—

* 'नयप्रमाणविकल्पपूर्वको जीवाद्यर्थयाथात्म्यावगमः सम्यग्ज्ञानम् ।'
—सर्वार्थसिद्धि १—१

× जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं ।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण ॥

† क्षयं नयति भेदज्ञश्चिद्रूपप्रतिघातकम् ।
क्षणेन कर्मणां राशिं तृणानां पावको यथा ॥ १७ ॥
—तत्त्वज्ञानतरंगिणी

परपदार्थोंकी परिणतिको ही आत्म-परिणति मान रहे हैं वे ही कर्मबंधनसे बंध रहे हैं‡। इसी भावको अध्यात्मकवि पं० बनारसीदासजी निम्न शब्दोंमें प्रकट करते हैं :—

भेदज्ञान संवर जिन पायो, सो चेतन शिवरूप कहायो।
भेदज्ञान जिनके घट नाहीं, ते जड़ जीव बंधे घट माहीं ॥८॥

इस तरह सम्यग्ज्ञान ही वस्तुके यथार्थस्वरूपका अवबोधक है और उसीसे हेयोपादेयरूप तत्त्वकी व्यवस्था होती है। अतः हमें तत्त्वश्रद्धानी बननेके साथ साथ सम्यग्ज्ञानप्राप्तिका भी अनुष्ठान करते रहना चाहिये।

निश्चयसम्यग्ज्ञानका स्वरूप—

स्वात्मन्येवोपयुक्तः परपरिणतिभिन्नश्चिद्गुणग्रामदर्शी
चिच्चित्पर्यायभेदाधिगमपरिणतत्त्वाद्विकल्पावलीढः।
यः स्यात्सद्बोधचन्द्रः परमनय॰ तत्त्वाद्विरागी कथंचि-
च्चेदात्मन्येव मग्नश्च्युतसकलनयो वास्तवज्ञानपूर्णः ॥११॥

अर्थ—जो अपने स्वरूपमें ही उपयोग-विशिष्ट है—परपदार्थोंकी परिणतिसे भिन्न है, चैतन्यरूप गुणसमूहका द्रष्टा है—चेतनाके चिदात्मक पर्याय-भेदोंका परिज्ञापक होनेसे सविकल्प है—ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतनारूप पर्यायभेदोंका जाननेवाला है अतएव सविकल्प है, विरागी है—रागद्वेषादिसे रहित है और कथंचित् स्वात्मामें ही मग्न है—स्थिर है, नैगमादि

‡ भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
तस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥
—नाटकसमयसार ६—७

सम्पूर्ण नयोंके व्यापारसे रहित है, वास्तविकज्ञानसे परिपूर्ण है, वह निश्चयनयसे सम्यग्ज्ञानरूप चन्द्रमा है—अर्थात् निश्चय-सम्यग्ज्ञान है।

भावार्थ—जो अपने ज्ञायकस्वरूपमें स्थिर होता हुआ परपदार्थोंकी परिणतिसे भिन्न चैतन्यात्मक गुणसमूहका द्रष्टा है, चेतनाके पर्यायभेदोंका ज्ञायक है अतएव सविकल्प है, राग-द्वेषादिसे रहित है, और नय-प्रवृत्तिसे विहीन है उसे निश्चय सम्यग्ज्ञान कहते हैं। विशेषार्थ—यहाँ चेतना-पर्यायोंका जो ग्रन्थकारने 'चिच्चित्पर्ययभेद' शब्दों द्वारा उल्लेख किया है उसका खुलासा इस प्रकार है—चेतना अथवा चेतनाके परिणाम तीन रूप हैं—ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना*। ऐसे अनेक जीव हैं जिनके ज्ञानावरण, दर्शनावरण मोहनीय और वीर्यांतराय रूप कर्मोंका उदय है और कर्मोदयके कारण जिनकी आत्म-शक्ति अविकसित है—कर्मोदयसे सर्वथा ढकी हुई है, अतएव इष्ट अनिष्टरूप कार्य करनेमें असमर्थ हैं-निरुद्यमी हैं और विशेषतया सुख-दुःखरूप कर्मफलके ही भोक्ता हैं, ऐसे एकेन्द्रिय जीव प्रधानतया कर्मफलचेतनाके धारक होते हैं†। और जिन जीवों-

---

* कम्माणं फलमेक्को एक्को कज्जं तु णाणमध एक्को।
चेदयदि जीवरासी चेदगभावेण तिविहेण॥ —पंचास्ति० ३८

परिणमदि चेदणाए आदा पुण चेदणा तिधा भणिदा।
सा पुण णाणे कम्मे फलम्मि वा कम्मणो भणिदा॥
—प्रवचनसार ३१

† 'एके हि चेतयितारः प्रकृष्टतरमोहमलीमसेन प्रकृष्टतरज्ञानावरण-मुद्रितानुभावेन चेतकस्वभावेन प्रकृष्टतरवीर्यान्तरायावसादितकार्यकारण-सामर्थ्याः सुखदुःखरूपं कर्मफलमेव प्राधान्येन चेतयन्ते।

—पंचास्ति० तत्त्व० टी० ३८

जीवोंके ज्ञानावरण, दर्शनावरण और मोहनीयकर्मका विशेष उदय पाया जाता है और कर्मोदयसे जिनकी चेतना मलिन है—राग-द्वेषादिसे आच्छादित है—वीर्यांतरायकर्मके किंचित् क्षयोपशमसे इष्ट अनिष्टरूप कार्य करनेकी जिन्हें कुछ सामर्थ्य प्राप्त हो गई है और इसलिए जो सुख-दुःखरूप कर्मफलके भोक्ता हैं, ऐसे दोइन्द्रियादिक जीवोंके मुख्यतया कर्मचेतना होती है*।

जिन जीवोंका मोहरूपी कलंक धुल गया है, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और वीर्यांतराय कर्मके अशेष क्षयसे जिन्हें अनन्त-ज्ञानादिकगुणोंकी प्राप्ति होगई है, जो कर्म और उनके फल भोगनेमें विकल्प-रहित हैं, आत्मिक पराधीनतासे रहित स्वाभाविक अनाकुलतालक्षणरूप सुखका सदा आस्वादन करते हैं। ऐसे जीव केवल ज्ञानचेतनाका ही अनुभव करते हैं †।

परन्तु जिन जीवोंके सिर्फ दर्शनमोहका ही उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम होता है, जो तत्त्वार्थके श्रद्धानी हैं अथवा दर्शनमोहके अभावसे जिनकी दृष्टि सूक्ष्मार्थिनी हो गई है—सूक्ष्म पदार्थका अवलोकन करने लगी है—और जो स्वानुभवके रससे परिपूर्ण हैं,

---

* 'अन्ये तु प्रकृष्टतरमोहमलीमसेनापि प्रकृष्टज्ञानावरणमुद्रितानुभावेन चेतकस्वभावेन मनाग्वीर्यान्तरायक्षयोपशमासादितकार्यकारणसामर्थ्याः सुखदुःखानुरूपकर्मफलानुभवनसंवलितमपि कार्यमेव प्राधान्येन चेतयंते।'

—पंचास्ति० तत्त्व० टी० ३८

† 'अन्यतरे तु प्रक्षालितसकलमोहकलंकेन समुच्छिन्नकृत्स्नज्ञानावरणतयाऽत्यंतमुन्मुद्रितसमस्तानुभावेन चेतकस्वभावेन समस्तवीर्यांतरायक्षयासादितानंतवीर्या अपि निर्जीर्णकर्मफलत्वादत्यंतकृतकृत्यत्वाच्च स्वतोऽव्यतिरिक्तं स्वाभाविकं सुखं ज्ञानमेव चेतयंत इति।'

—पंचास्ति० तत्त्व० टी० ३८

व्रतधारणकी इच्छा रखते हुए भी चारित्रमोहके उदयसे जो लेश-मात्र भी व्रतको धारण नहीं कर सकते, ऐसे उन सम्यग्दृष्टि जीवोंके भी ज्ञानचेतना होती है। और चारित्रमोहादिक कर्मोंका उदय रहनेसे कर्मचेतना भी उनके पाई जाती है। इसीसे सम्यग्दृष्टिके दोनों चेतनाओंका अस्तित्व माना जाता है।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानमें अभेदकी आशङ्का और उसका समाधान—

को भिन्नःसंविदृदृशोर्वै ननु समसमये संभवत्सत्त्वतः स्या—
देकं लक्ष्म द्वयोर्वा तदखिलसमयानां च निर्णीतिरेव।
द्वाभ्यामेवाविशेषादिति मतिरिह चेन्नैव शक्तिद्वयात्स्यात्†—
त्संविन्मात्रे हि बोधो रुचिरतिविमला तत्र सा सद्दृगेव॥१२॥

शङ्का—सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शनमें क्या भेद है? क्योंकि ये दोनों समकालमें एक ही साथ उत्पन्न होते हैं और दोनोंका एक ही लक्षण है। जिन पदार्थोंका एक ही लक्षण हो और जो एक ही समयमें पैदा होते हों वे पदार्थ एक माने जाते हैं, ऐसा अखिल सिद्धान्तों अथवा सम्प्रदायों द्वारा निर्णीत ही है। अतएव इन दोनों को अभिन्न ही मानना चाहिये?

समाधान—ऐसा मानना ठीक नहीं है; क्योंकि ज्ञान और दर्शन ये जुदी जुदी दो शक्तियां हैं। संवित्ति-सामान्यके होनेपर ही तत्त्व-बोध होता है, तत्त्व-बोध होनेपर अत्यन्त निर्मल रुचिरूप श्रद्धा होती है और वह श्रद्धा ही सम्यक्त्व है। अतः सम्यग्ज्ञान जहां तत्त्व-बोधरूप है वहां सम्यग्दर्शन तत्त्व-रुचि रूप है, इसलिये दोनों अभिन्न नहीं हैं—भिन्न भिन्न ही हैं।

† 'शक्तिद्वयात' पाठः

भावार्थ—यद्यपि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान समकालमें ही होते हैं—जब दर्शनमोहनीय कर्मके उपशम, क्षय और क्षयोपशम-से आत्मामें सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है उसी समय ही जीवके पहलेसे विद्यमान मतिअज्ञान और श्रुतअज्ञान दोनों ही सम्य-क्रूपसे परिणमन करते हैं अर्थात् वे अपनी मिथ्याज्ञानरूप पूर्व पर्यायका परित्याग कर मतिज्ञान और श्रुतज्ञानरूप सम्यग्ज्ञानपर्याय-से युक्त होते हैं—तथापि दोनोंमें कार्य-कारण-भाव होने तथा भिन्न लक्षण होनेसे भिन्नता है। जैसे मेघपटलके विनाश होनेपर सूर्यके प्रताप और प्रकाश दोनोंकी एक साथही अभिव्यक्ति होती है* परन्तु वे दोनों स्वरूपतः भिन्न भिन्न ही हैं—एक नहीं हो सकते। ठीक उसी तरह सम्यग्दर्शनके साथ सम्यग्ज्ञानके होनेपर भी वे दोनों एक नहीं हो सकते; क्योंकि सम्यक्दर्शन तो कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य है इतना ही नहीं; दोनोंके लक्षण भी भिन्न भिन्न हैं। सम्यग्दर्शनका लक्षण तो रुचि, प्रतीति अथवा निर्मल श्रद्धा है और सम्यग्ज्ञानका लक्षण तत्त्व-बोध है—जीवादि पदार्थोंका यथार्थ परिज्ञान है। अतः लक्षणोंकी भिन्नता भी दोनों-की एकताकी बाधक है †। इसलिये सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों भिन्न हैं।

---

* 'यदाऽस्य दर्शनमोहस्योपशमात्क्षयात्क्षयोपशमाद्वा आत्मा सम्यग्दर्शनपर्यायेणाविर्भवति, तदैव तस्य मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाननिवृत्तिपूर्वकं मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं चाविर्भवति। घनपटलविगमे सवितुः प्रताप-प्रकाशाभिव्यक्तिवत्।'
—सर्वार्थसिद्धिः १-१

† 'पृथगाराधनमिष्टं दर्शनसहभाविनोऽपि बोधस्य।
लक्षणभेदेन यतो नानात्वं संभवत्यनयोः ॥ ३२ ॥

व्यवहार सम्यक्चारित्र और निश्चय सरागसम्यक्चारित्रका स्वरूप—

पंचाचारादिरूपं दृगवगमयुतं सच्चरित्रं च भाक्तं
द्रव्यानुष्ठानहेतुस्तदनुगतमहारागभावः कथंचित् ।
भेदज्ञानानुभावादुपशमितकषायप्रकर्षस्वभावो
भावो जीवस्य सः स्यात्परमनयगतः स्याच्चरित्रं सरागम्॥१३॥

अर्थ—जो पंच आचारादिस्वरूप है—दर्शन, ज्ञान, चारित्र तप और वीर्य इन पांच आचार तथा आदिपदसे उत्तम-क्षमादि दश-धर्म और षडावश्यकादि क्रियास्वरूप है—तथा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे युक्त है वह व्यवहार सम्यक्चारित्र है। इस व्यवहार सम्यक्चारित्रमें द्रव्य-क्रियाओंके करनेमें कुछ अनुकूल स्थूल राग परिणाम हुआ करता है इसी लिये यह व्यवहार चारित्र कहा जाता है। भेदज्ञानके प्रभावसे जिसमें कषायोंका प्रकर्षस्वभाव शान्त होजाता है वह जीवका भाव निश्चयनयसे सराग सम्यक्चारित्र है।

भावार्थ—पंच महाव्रतादिरूप तेरह प्रकारके चारित्रका अनुष्ठान करना व्यवहारचारित्र है और स्वस्वरूपमात्रमें प्रवृत्ति करना निश्चयचारित्र है। इस तरह व्यवहार और निश्चयके भेदसे चारित्र दो प्रकारका है, जिसका खुलासा इस प्रकार है :—

सम्यग्ज्ञानं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं वदन्ति जिनाः ।
ज्ञानाराधनमिष्टं सम्यक्त्वानन्तरं तस्मात् ॥ ३३ ॥
कारण-कार्यविधानं समकालं जायमानयोरपि हि ।
दीप प्रकाशयोरिव सम्यक्त्व-ज्ञानयोः सुघटम् ॥ ३४ ॥

— पुरुषार्थसिद्ध्युपाये, श्रीअमृतचन्द्रः ।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहित व्रत, गुप्ति, समिति आदि-का अनुष्ठान करना, दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्यरूप पंच आचारोंका पालना तथा उत्तमक्षमादि दशधा धर्मका आचरण करना और षडावश्यकादि क्रियाओंमें यथायोग्य प्रवर्तना, यह सब व्यवहार सम्यक्चारित्र है। अथवा अशुभक्रियाओंसे—विषय, कषाय, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रहरूप क्रियाओंसे—निवृत्ति तथा शुभोपयोगजनक क्रियाओंमें—दान, पूजन, स्वाध्याय-तत्त्वचिंतन, ध्यान, समाधि और इच्छानिरोधादि उत्तम क्रियाओंमें—प्रवृत्ति करना व्यवहार सम्यक्चारित्र है*। इस चारित्रमें प्रायः स्थूल राग परिणति बनी रहती है इसलिये इसे व्यवहार चारित्र कहा जाता है, और जिसमें भेदविज्ञानके द्वारा कषायोंका प्रकर्षस्वभाव शान्त कर दिया जाता है ऐसा वह जीवका परिणामविशेष निश्चय-सरागसम्यक्चारित्र है।

निश्चयवीतरागचारित्र और उसके भेदोंका स्वरूप—

स्वात्मज्ञाने निलीनो गुण इव गुणिनि त्यक्त-सर्व-प्रपञ्चो
रागः कश्चिन्न बुद्धो खलु कथमपि वाऽबुद्धिजः स्यात्तु तस्य।
सूक्ष्मत्वाच्चं हि गौणं यतिवरवृषभाः स्याद्विधायेत्युशन्ति
तच्चारित्रं विरागं यदि खलु विगलेत्सोऽपि साक्षाद्विरागम्॥१४॥

इति श्रीमदध्यात्मकमलमार्तण्डाभिधाने शास्त्रे मोक्ष-मोक्षमार्ग-लक्षणप्रतिपादकः प्रथमः परिच्छेदः॥

अर्थ—जो जीव गुणीमें गुणके समान स्वात्म-ज्ञानमें लीन है—आत्म-स्वरूपमें ही सदा निष्ठ रहता है—सब प्रपंचोंसे रहित

* असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वद-समिदि-गुत्तिरूवं ववहारणयादु जिण-भणियं॥—द्रव्यसंग्रह ४५

है वह निश्चयवीतरागचारित्री है। उसके निश्चयसे बुद्धिपूर्वक राग नहीं होता, किसी प्रकार अबुद्धिजन्य राग हो भी तो सूक्ष्म ही होता है। अतः उसके इस चारित्रको गणधरादिदेवोंने गौण वीतराग-चारित्र कहा है। और यदि वह सूक्ष्म-राग भी नहीं रहता तो उसे साक्षात् निश्चयवीतरागचारित्र कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि वीतरागचारित्रवाले मुनियोंके कोई भी बुद्धिजन्य राग नहीं होता—उनके स्वशरीरादि अथवा परपदार्थमें किंचित भी बुद्धि-पूर्वक राग नहीं होता; किन्तु अबुद्धिजन्य राग कथंचित पाया जा सकता है, पर वह सूक्ष्म है; ऐसे चारित्रको मुनिपुंगव गौणरूप वीतरागचारित्र कहते हैं। उस सूक्ष्म अबुद्धिजन्य रागके भी विनाश होनेपर वह चारित्र साक्षात् वीतरागचारित्र कहलाता है।

भावार्थ—जो चारित्र स्वात्म-प्रवृत्तिरूप है, कषायरूपी कलंकसे सर्वथा मुक्त है अथवा दर्शनमोह और चारित्रमोहके उदय-जनित मोह-क्षोभसे सर्वथा रहित जीवके अत्यन्त निर्विकार परिणाम स्वरूप है और जिसे 'साम्य' कहा गया है* उसे ही वीतरागचारित्र, निश्चयचारित्र अथवा निश्चयधर्म भी कहते हैं। इस चारित्रके भी दो भेद हैं— १ गौणवीतरागचारित्र और २ साक्षात्वीतरागचारित्र।

जो स्वात्मामें ही सदा निष्ठ रहते हैं, बाह्य संकल्प-विकल्पोंसे सर्वथा रहित हैं, जिनके आत्मा अथवा पर-पदार्थमें किंचित भी बुद्धिजन्य राग नहीं पाया जाता, किसी तरह अबुद्धिजन्य-राग

---

* 'मोह-क्खोह-विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो।'

प्रवचनसारे, श्रीकुन्दकुन्दाचार्यः

साम्यं तु दर्शन-चारित्रमोहनीयोदयापादितसमस्तमोह-क्षोभाभावादत्यन्त-निर्विकारो जीवस्य परिणामः।' —प्रवचनसार टी० ७

पाया भी जाय तो वह अत्यन्त सूक्ष्म होता है—बाह्यमें दृष्टि-गोचर नहीं होता—ऐसे मुनियोंके उस चारित्रको गौणवीत-रागचारित्र कहते हैं। और जिन मुनीश्वरोंका वह अत्यन्त सूक्ष्म अबुद्धिजन्य राग भी विनष्ट हो जाता है उनके चारित्रको साक्षात्-वीतरागचारित्र कहते हैं, जो मुक्तिका साक्षात्कारण है।

इस प्रकार 'श्रीअध्यात्मकमलमार्तण्ड' नामक अध्यात्म-ग्रन्थमें मोक्ष और मोक्षमार्गका कथन करनेवाला प्रथम परिच्छेद समाप्त हुआ।

द्वितीय परिच्छेद

तत्त्वोंका नाम-निर्देश—

जीवाजीवावास्रवबन्धौ किल संवरश्च निर्जरणं।
मोक्षस्तत्त्वं सम्यग्दर्शनसद्बोधविषयमखिलं स्यात् ॥१॥

अर्थ—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सब ही तत्त्व सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके विषय हैं—इनका श्रद्धान सम्यग्दर्शन और इनका बोध सम्यग्ज्ञान है।

पुण्य और पापका आस्रव तथा बंधमें अन्तर्भाव—

आस्रवबन्धान्तर्गतपुण्यं पापं स्वभावतो न पृथक्।
तस्मान्नोद्दिष्टं खलु तत्त्वदृशा सूरिणा सम्यक् ॥२॥

अर्थ—पुण्य और पाप, आस्रव तथा बन्धके अन्तर्गत हैं—उन्हींमें समाविष्ट हैं—, स्वभावसे पृथक् नहीं हैं। इस कारण तत्त्वदर्शी आचार्य महोदयने इनका प्रथक् कथन नहीं किया।

भावार्थ—कर्मके दो भेद हैं—पुण्यकर्म और पापकर्म। मन, वचन और कायकी श्रद्धापूर्वक पूजा, दान, शील संयम और तपश्चरणादिरूप शुभ क्रियाओंमें प्रवृत्ति करनेसे पुण्यकर्मका अर्जन होता है और हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, लोभ, ईर्ष्या और असूयादिरूप मन, वचन तथा कायकी अशुभ-प्रवृत्तिसे पापकर्म होता है। पुण्य तथा पाप आस्रव और बन्ध दोनों ही रूप होते हैं, क्योंकि शुभ परिणामोंसे पुण्यास्रव और पुण्यबंध होता है और अशुभ परिणामोंसे पापास्रव तथा पापबंध होता है। इसीसे पुण्य और पापका अन्तर्भाव आस्रव और बन्धमें किया गया है। यही कारण है कि तत्त्वदर्शी आचार्य महोदयने इनका सात तत्त्वोंसे भिन्न वर्णन नहीं किया।

विशेषार्थ—यहाँ इस शंकाका समाधान किया गया है कि पुण्य और पाप भी अलग तत्त्व हैं उन्हें जीवादि सात तत्त्वोंके साथ क्यों नहीं गिनाया? ग्रन्थकारने इसका उत्तर संक्षेपमें और वह भी बड़े स्पष्ट शब्दोंमें यह दिया है कि पुण्य और पाप वस्तुतः प्रथक् तत्त्व नहीं हैं, उनका आस्रव और बन्ध तत्त्वमें ही अन्तर्भाव हो जाता है। मालूम होता है पं० राजमल्लजीने आचार्य उमास्वातिके उस सूत्र*को लक्ष्यमें रखकर ही यह शंका और समाधान किया है जिसमें आचार्य महाराजने उल्लिखित जीवादि सात तत्त्वोंका ही कथन किया है। इस सूत्रकी टीका करनेवाले आचार्य पूज्यपादने भी इस शंका और समाधानको अपनी सर्वार्थसिद्धिमें स्थान दिया है†।

* देखो, तत्त्वार्थसूत्र० १-४।

† 'इह पुण्यपापग्रहणं च कर्तव्यं, नव पदार्था इत्यन्यैरप्युक्तत्वात्। न कर्तव्यम्, तयोरास्रवे बन्धे चान्तर्भावात्।' —सर्वार्थसि० १-४

तत्त्वोंका परिणाम और परिणामिभाव—

जीवमजीवं द्रव्यं तत्र तदन्ये भवन्ति मोक्षान्ताः।
चित्पुद्गलपरिणामाः केचित्संयोगजाश्च विभजनजाः॥३॥

अर्थ—उक्त सात तत्त्वोंमें जीव और अजीव ये दो तत्त्व तो द्रव्य हैं—परिणामी हैं—और मोक्ष पर्यन्तके शेष पाँच तत्त्व जीव और अजीव (पुद्गल) इन दोनोंके परिणाम हैं, जिनमें कुछ परिणाम तो संयोगज हैं और कुछ विभागज।

भावार्थ—आस्रव और बन्ध ये दो तत्त्व जीव और पुद्गलके संयोगसे निष्पन्न होते हैं। इस कारण इन्हें संयोगज परिणाम कहते हैं। तथा संवर, निर्जरा और मोक्ष ये तीन तत्त्व दोनोंके विभागसे उत्पन्न होते हैं। अतः ये विभागज परिणाम कहे जाते हैं। इस तरह उपर्युक्त सात तत्त्वोंमें आदिके दो तत्त्व परिणामी हैं और शेष तत्त्व उनके परिणाम हैं।

द्रव्योंका सामान्य-स्वरूप—

द्रव्याण्यनाद्यनिधनानि सदात्मकानि
स्वात्मस्थितानि सदकारणवन्ति नित्यम्।
एकत्र संस्थितवपूंष्यपि भिन्नलक्ष्म-
लक्ष्याणि तानि कथयामि यथास्वशक्ति॥ ४॥

अर्थ—सब द्रव्य अनादि-निधन हैं—द्रव्यार्थिकनयसे आदि-अन्त-रहित हैं, सत्स्वरूप हैं—अस्तित्ववाले हैं; स्वात्मामें स्थित हैं—एवम्भूतनयकी अपेक्षासे अपने अपने प्रदेशोंमें स्थित हैं;

सन् और अकारणवान् हैं—पर्यायें ही किसी कारणसे उत्पन्न और विनष्ट होती हैं इसलिये वे तो कारणवान हैं; परन्तु द्रव्यका न उत्पाद होता है और न विनाश—वह सदा विद्यमान रहता है, इसलिये सब द्रव्य द्रव्य-सामान्यकी अपेक्षासे कारण रहित हैं। अतएव नित्य हैं और एक ही स्थानमें—लोकाकाशमें—परस्पर मिले हुए स्थित होनेपर भी अपने चैतन्यादि भिन्न भिन्न लक्षणों द्वारा जाने जाते हैं। उन सब (द्रव्यों)का मैं अपनी शक्त्यनुसार कथन करता हूँ।

भावार्थ—द्रव्य छह हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। ये सब ही द्रव्य अनादिनिधन हैं। क्योंकि 'सत्का विनाश नहीं होता और न असत्का उत्पाद ही होता है।' इस सिद्धान्तके अनुसार जो द्रव्य हैं उनका विनाश नहीं हो सकता और जो नहीं हैं उनका उत्पाद नहीं बन सकता; इसलिये द्रव्य अनादिनिधन हैं। उपलब्ध हो रहे हैं, इसलिये सत्स्वरूप हैं—त्रिकालाबाधित सत्तासे विशिष्ट हैं। कारण रहित हैं, अतएव नित्य भी हैं। एक ही लोकाकाशमें अपने अपने स्वरूपसे स्थित हैं। चूँकि लक्षण सब द्रव्योंका अलग अलग है अतः एक जगह सबके रहनेपर भी एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप परिणत नहीं होता और इसलिये उनका स्वतन्त्र अस्तित्व जाना जाता है। जीव-द्रव्य चेतन है, अवशिष्ट पांचों ही द्रव्य अचेतन हैं। इनमें पुद्गल-द्रव्य तो मूर्तिक है—रूप, रस, गन्ध और स्पर्शवान है। बाकी सभी द्रव्य अमूर्तिक हैं—चेतनता, गतिनिमित्तता, स्थितिहेतुत्व, अवगाहहेतुत्व ये इन द्रव्योंके क्रमशः विशेष-लक्षण हैं, जिनसे प्रत्येक द्रव्यकी भिन्नताका स्पष्ट बोध होता है। इन सबका आगे निरूपण किया जाता है।

द्रव्यका लक्षण—

गुणपर्ययवद्द्रव्यं विगमोत्पादध्रुवत्ववच्चापि ।
सल्लक्षणमिति च स्याद्द्वाभ्यामेकेन वस्तु लक्ष्येद्वा*॥५॥

अर्थ—जो गुण और पर्यायवान है वह द्रव्य है तथा वह द्रव्य सत्-लक्षणरूप है और सत उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यको लिये हुए है। इन दोनों लक्षणोंसे अथवा दोनोंमेंसे किसी एक लक्षणसे भी वस्तु लक्षित होती है—जानी जाती है।

भावार्थ—जो गुण और पर्यायों वाला है अथवा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य-स्वरूप है वह द्रव्य है। ये द्रव्यके दो लक्षण हैं, इन दोनोंसे अथवा किसी एकसे वह जाना जाता है।

गुणका लक्षण—

अन्वयिनः किल नित्या गुणाश्च निर्गुणावयवा ह्यनन्तांशाः ।
द्रव्याश्रया विनाश-प्रादुर्भावाः स्वशक्तिभिः शश्वत्† ॥ ६ ॥

---

* 'दव्वं सल्लक्खणयं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं ।
गुण-पज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू ॥'
—पंचास्तिकाये, श्रीकुन्दकुन्दाचार्यः

'अपरिचत्तसहावेणुप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं ।
गुणवं च सपज्जायं जं तं दव्वं ति वुच्चंति ॥'
—प्रवचनसारे, श्रीकुन्दकुन्दाचार्यः

'सद्द्रव्यलक्षणम्' 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ।'
'गुणपर्ययवद्द्रव्यम् ।' —तत्त्वार्थसूत्र ५-२६,३०,३८

† 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः' —तत्त्वार्थसूत्र ५-४६
'जो खलु दव्वसहावो परिणामो सो गुणो सदवि सिद्धो ।' प्रवचनसा० २-१७
'अन्वयिनो गुणाः' —सर्वार्थसि० ५-३८

अर्थ—जो अन्वयी हैं—द्रव्यके साथ सदा रहनेवाले हैं, नित्य हैं—अविनाशी हैं, निर्गुण हैं—अवयवरूप हैं और अनंत अविभाग-प्रतिच्छेद-स्वरूप हैं, द्रव्यके आश्रय हैं—जो द्रव्यमें ही पाये जाते हैं, और अपनी शक्तियोंसे सदा उत्पाद-व्यय-विशिष्ट हैं, वे गुण कहलाते हैं।

भावार्थ—जो सदैव द्रव्यके आश्रय रहते हैं और निर्गुण होते हैं वे गुण कहलाते हैं। गुण अन्वयी होते हैं, द्रव्यके साथ सदा रहते हैं और उससे अलग नहीं होते, कभी नाश भी नहीं होते, वे सदा अपनी शक्तियोंसे उत्पाद, व्यय करते हुए भी ध्रौव्यरूपसे रहते हैं, अथवा एक गुणका उस ही गुणकी अनन्त अवस्थाओंमें अन्वय पाया जाता है इस कारण गुणोंको अन्वयी कहते हैं। यद्यपि एक द्रव्यमें अनेक गुण हैं इसलिये नाना गुणकी अपेक्षा गुण व्यतिरेकी भी हैं। परन्तु एक गुण अपनी अनन्त अवस्थाओंकी अपेक्षासे अन्वयी ही है†। वे गुण दो प्रकारके हैं :—एक सामान्यगुण और दूसरे विशेषगुण इन दोनों ही प्रकारके गुणोंका स्वरूप ग्रन्थकार आगे बतलाते हैं।

सामान्यगुणका स्वरूप—

सर्वेष्वविशेषेण हि ये द्रव्येषु च गुणाः प्रवर्तन्ते।
ते सामान्यगुणा इह यथा सदादि प्रमाणतः सिद्धम् ॥७॥

अर्थ—जो गुण समस्त द्रव्योंमें समानरूपसे रहते हैं वे यहाँ पर सामान्यगुण कहे गए हैं। जैसे प्रत्यक्षादि-प्रमाणसे सिद्ध अस्तित्वादि गुण।

---

† जैन-सिद्धान्तदर्पण पृ० ६७।

विशेषगुणका स्वरूप—

तस्मिन्नेव विवक्षितवस्तुनि मग्ना इहेदमिति चिज्ञाः।
ज्ञानादयो यथा ते द्रव्यप्रतिनियमितो विशेषगुणाः ॥८॥

अर्थ—उस एक ही विवक्षितवस्तुमें 'इसमें यह है' इस रूपसे रहनेवाले और उस द्रव्यके प्रतिनियामक विशेषगुण कहलाते हैं, जैसे जीवके ज्ञानादिक गुण।

भावार्थ—जो गुण किसी एक ही वस्तुमें असाधारणरूपसे पाये जाते हैं वे विशेषगुण कहलाते हैं; जैसे जीवद्रव्यमें ज्ञानादिक गुण। ये विशेषगुण प्रतिनियत द्रव्यके व्यवस्थापक होते हैं।

पर्यायका स्वरूप और उसके भेद—

व्यतिरेकिणो ह्यनित्यास्तत्काले द्रव्यतन्मयश्चापि।
ते पर्याया द्विविधा द्रव्यावस्थाविशेष-धर्मांशाः ॥९॥

अर्थ—जो व्यतिरेकी हैं—क्रमवर्ती हैं, अनित्य हैं—परिणमनशील हैं, और पर्यायकालमें ही द्रव्यस्वरूप हैं उन्हें पर्याय कहते हैं। वे पर्यायें दो प्रकारकी होती हैं—१ द्रव्यकी अवस्थाविशेष और २ धर्मांशरूप।

भावार्थ—द्रव्यके विकारको पर्याय कहते हैं*। ये पर्यायें क्रमवर्ती होती हैं—प्रथम एक पर्याय हुई, उसके नाश होनेपर दूसरी और दूसरीके विनाश होनेपर तीसरी पर्यायकी निष्पत्ति होती है। इस तरह पर्यायें क्रम क्रमसे होती रहती हैं अतएव उन्हें क्रमवर्ती कहते हैं। पर्यायें अनित्य होती हैं—वे सदा एक रूप नहीं रहतीं, उनमें उत्पाद-व्यय होता रहता है। द्रव्यकी अवस्था-

---

* 'दव्वविकारो हि पज्जवो भणिदो।'—सर्वार्थसिद्धि ५-३८

विशेष द्रव्यज-पर्याय हैं और धर्मांश गुण-पर्याय हैं। ये दोनों ही तरहकी पर्यायें क्रमशः द्रव्यों और गुणोंमें हुआ करती हैं।

द्रव्यावस्थाविशेषरूप द्रव्यज पर्यायका स्वरूप—

एकानेकद्रव्याणामेकानेकदेशसंपिण्डः† ।
द्रव्यजपर्यायोऽन्यो देशावस्थान्तरे तु तस्माद्धि ॥१०॥

अर्थ—एक अनेकरूप द्रव्योंका एक अनेकरूप प्रदेशपिण्ड द्रव्यज पर्याय कहलाती है। और वह एक अनेक द्रव्यका देशांतर तथा अवस्थान्तररूप होना है। यह द्रव्यज पर्याय दो प्रकारकी है—(१) स्वाभाविक द्रव्यज पर्याय और (२) वैभाविक द्रव्यज पर्याय। इनका स्वरूप स्वयं ग्रन्थकार आगे कहते हैं।

स्वाभाविक द्रव्यज पर्यायका स्वरूप—

यो द्रव्यान्तरसमितिं विनैव वस्तुप्रदेशसंपिण्डः ।
नैसर्गिकपर्यायो द्रव्यज इति शेषमेव गदितं स्यात् ॥११॥

अर्थ—द्रव्यान्तरके संयोगके बिना ही वस्तुका जो प्रदेश-पिण्ड है वह स्वाभाविक द्रव्यज पर्याय है। और जो शेष है—अन्य द्रव्यान्तरके सम्बन्धसे होनेवाला वस्तुके प्रदेशोंका पिण्ड है—उसे वैभाविक द्रव्यज पर्याय कहा गया है। जैसा कि आगेके पद्यमें स्पष्ट किया गया है।

वैभाविक द्रव्यज पर्यायका स्वरूप—

द्रव्यान्तरसंयोगादुत्पन्नो देशसंचयो द्वयजः ।
वैभाविकपर्यायो द्रव्यज इति जीव-पुद्गलयोः ॥१२॥

अर्थ—दूसरे द्रव्यके संयोगसे उत्पन्न प्रदेशपिण्डको वैभाविक

---

† 'एकानेकद्रव्याण्येकानेप्रदेशसंपिण्डः ।'—मुद्रितप्रतौ पाठः

द्रव्यज पर्याय कहते हैं। यह वैभाविक द्रव्यज पर्याय जीव और पुद्गलमें ही पाई जाती है।

भावार्थ—जो पर्याय द्रव्यान्तरके निमित्तसे हो उसे विभाव द्रव्यज पर्याय कहते हैं—जैसे पुद्गलके निमित्तसे संसारी जीवका जो शरीराकारादिरूप परिणाम है वह जीवकी विभाव द्रव्यज पर्याय है। और उसी प्रकार जीवके निमित्तसे पुद्गलका शरीरादिरूप परिणमन होना पुद्गलकी विभाव द्रव्यज पर्याय है। ये विभाव द्रव्यज पर्याय केवल पुद्गल और जीवमें ही होती हैं—अन्य धर्मादिद्रव्योंमें नहीं। क्योंकि उनमें विभावरूपसे परिणमन करानेवाली वैभाविक शक्ति या क्रियावती शक्ति नहीं है। अतः उनका स्वभावरूपसे ही परिणमन होता है और इसलिये उनमें स्वभाव पर्यायें ही कही गई हैं।

गुण-पर्यायोंका वर्णन—

एकैकस्य गुणस्य हि येऽनन्तांशाः प्रमाणतः सिद्धाः।
तेषां हानिर्वृद्धिर्वा पर्याया गुणात्मकाः स्युस्ते ॥१३॥

अर्थ—एक एक गुणके प्रमाणसे सिद्ध जो अनन्त अंश हैं—अविभाग-प्रतिच्छेदरूप अनन्त शक्त्यंश हैं—उनकी हानि-वृद्धिरूप जो पर्यायें होती हैं वे गुणात्मक पर्याय कहलाती हैं। अर्थात् उन्हें गुण-पर्याय कहा गया है।

भावार्थ—एक एक गुणके अविभागप्रतिच्छेदरूप अनन्त शक्त्यंश होते हैं उनको अगुरुलघुगुणोंके द्वारा होने वाली षड्गुणी हानि-वृद्धिरूप जो पर्यायें निष्पन्न होती हैं वे सब गुण-पर्याय कहलाती हैं। गुणांश-कल्पनाको गुण-पर्याय कहते हैं। गुण-पर्याय दो प्रकार की है—अर्थ-गुण-पर्याय और व्यञ्जन-गुण-पर्याय।

भाववती शक्तिके विकारको अर्थ-गुण-पर्याय कहते हैं और प्रदेशवत्वगुणरूप क्रियावती शक्तिके विकारको व्यञ्जन-गुण-पर्याय कहते हैं। अथवा स्वभाव-गुण-पर्याय और विभाव-गुण-पर्यायकी अपेक्षा भी गुण-पर्यायके दो भेद हैं।

स्वभाव-गुण-पर्यायका स्वरूप—

धर्मद्वारेण हि ये भावा धर्मांशात्मका [हि] द्रव्यस्य।
द्रव्यान्तरनिरपेक्षास्ते पर्यायाः स्वभावगुणतनवः ॥१४॥

अर्थ—अन्यद्रव्यकी अपेक्षासे रहित द्रव्यके जो धर्मसे धर्मांशरूप परिणाम होते हैं वे स्वभाव गुण-पर्याय कहलाते हैं।

भावार्थ—जो द्रव्यान्तरके बिना होता है उसे स्वभाव कहते हैं। जैसे कर्मरहित शुद्धजीवके जो ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य आदि पाये जाते हैं वे जीवके स्वभाव-गुणपर्याय हैं। और परमाणुमें जो स्पर्श-रस-गन्ध और वर्ण होते हैं वे पुद्गलकी स्वभाव गुण-पर्याय हैं। धर्मद्रव्यमें जो गतिहेतुत्व, अधर्मद्रव्यमें स्थितिहेतुत्व, आकाशद्रव्यमें अवगाहहेतुत्व और कालद्रव्यमें वर्तनाहेतुत्व है वह उस उस द्रव्यकी स्वभाव-गुण-पर्याय हैं, इन्हें इन द्रव्योंके उपकाररूपसे भी उल्लेखित किया है। सम्पूर्ण द्रव्योंमें अगुरुलघुगुणका जो परिणाम होता है वह सब उस उस द्रव्यकी स्वभाव-गुण-पर्याय है।

विभाव-गुण-पर्यायका स्वरूप—

अन्यद्रव्यनिमित्ताद्ये परिणामा भवंति तस्यैव।
धर्मद्वारेण हि ते विभावगुणपर्या(र्य)या द्वयोरेव ॥१५॥

अर्थ—उसी विवक्षित द्रव्यके अन्य द्रव्यकी अपेक्षा लेकर

धर्मद्वारा जो परिणाम होते हैं वे परिणाम विभाव-गुणपर्याय कहे जाते हैं। और वे जीव और पुद्गलमें ही होते हैं।

भावार्थ—जो पर्याय द्रव्यान्तरके निमित्तसे अंशकल्पना करके होती है वह विभाव-गुणपर्याय कही गई है। यह विभाव-गुणपर्याय जीव और पुद्गलमें ही होती है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान और कुअवधिज्ञान ये जीवकी विभाव-गुणपर्यायें हैं। और पुद्गल स्कन्धोंमें जो घट, पट, स्तम्भ आदि गत रूपादि पर्यायें हैं वे सब पुद्गलकी विभाव-गुणपर्यायें हैं।

इस तरह द्रव्यका जो पहिला लक्षण 'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्' किया था उसका व्याख्यान पूरा हुआ। अब आगेके पद्योंमें ग्रन्थकार दूसरे लक्षण 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' का व्याख्यान करते हैं।

एक ही समयमें द्रव्यमें उत्पादादित्रयात्मकत्वकी सिद्धि—

कैश्चित्पर्य्ययविगमैर्व्येति द्रव्यं ह्युदेति समकाले।
अन्यैः पर्ययभवनैर्धर्मद्वारेण शाश्वतं द्रव्यम् ॥१६॥

अर्थ—एक ही समयमें द्रव्य किन्हीं पर्यायोंके विनाशसे व्ययको प्राप्त होता है और अन्य—किन्हीं पर्यायोंके उत्पादसे उदयको प्राप्त करता है तथा द्रव्यत्वरूपसे वह शाश्वत रहता है। अर्थात् सदा स्थिर बना रहता है। इस प्रकार द्रव्य एक ही क्षणमें उत्पादादित्रयात्मक प्रसिद्ध होता है।

भावार्थ—किसी पदार्थकी पूर्व अवस्थाका विनाश होना व्यय कहलाता है, उत्तरपर्यायकी उत्पत्तिको उत्पाद कहते हैं और इन पूर्व तथा उत्तर अवस्थाओंमें रहनेवाला वस्तुका वस्तुत्व ध्रौव्य कहलाता है। जैसे किसी मलिन वस्त्रको साबुन और पानीके निमित्तसे धो डाला, वस्त्रकी मलिन अवस्थाका विनाश हो गया और शुक्ल-रूप उज्ज्वल अवस्थाका उत्पाद हुआ। मलिन तथा उज्ज्वल

अवस्थाद्वयमें रहनेवाला वस्तुका वस्तुत्व ज्योंका त्यों बना रहा—वह नष्ट नहीं हुआ, इसीको ध्रौव्य कहते हैं। इसी तरह द्रव्य प्रत्येक समयमें उत्तर अवस्थासे उत्पन्न होता है और पूर्वअवस्था-से विनष्ट होता है और द्रव्यत्व-स्वभावसे ध्रुवरूप रहता है। अतः ऊपरके कथनसे यह स्पष्ट है कि द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है। स्वामी समन्तभद्राचार्यके आप्तमीमांसागत निम्न पद्योंसे भी द्रव्य उत्पादादित्रयस्वरूप ही सिद्ध होता है :—

घट-मौलि-सुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्यं जनो याति स-हेतुकम् ॥५९॥
पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् ॥६०॥

अर्थात्—जो मनुष्य घट चाहता है वह उसके फूट जानेपर शोकको प्राप्त होता है, जो मुकुट चाहता है वह मुकुटरूप अभि-लषित कार्यकी निष्पत्ति हो जानेसे हर्षित होता है। और जो मनुष्य केवल सुवर्ण ही चाहता है वह घटके विनाश और मुकुट-की उत्पत्तिके समय भी सोनेका सद्भाव बना रहनेसे माध्यस्थ्य-भावको अपनाये रहता है। यदि सुवर्ण उत्पाद, विनाश और ध्रौव्य-स्वरूप न हो तो यह तीन प्रकारके शोकादिरूप भाव नहीं हो सकते। अतः इन शोकादिकको सहेतुक—व्यय, उत्पाद और ध्रौव्यनिमित्तक ही मानना चाहिए। जिस व्रती-मनुष्यके केवल दूध पीनेका व्रत है वह दही नहीं खाता है, जिसके दही खानेका नियम है वह दूध नहीं पीता है। किन्तु जिसके अगोरसका व्रत है वह दूध और दही इन दोनोंको ही नहीं खाता है। इससे मालूम होता है कि पदार्थ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यस्वरूप है।

उत्पादका स्वरूप—

बहिरन्तरः साधनसद्भावे सति यथेह तन्त्वादिषु ।
द्रव्यावस्थान्तरो हि प्रादुर्भावः पटादिवन्न सतः ॥१७॥

अर्थ—बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग उभय साधनोंके मिलनेपर द्रव्यकी अन्यावस्थाका होना उत्पाद है। जैसे लोकमें तन्त्वादि और तुरीवेमादिके होनेपर पटादि कार्य निष्पन्न होते हैं तो पटादिका उत्पाद कहा जाता है—तन्त्वादिकका नहीं, उसी प्रकार उपादान और निमित्त उभयकारणोंके मिलनेपर द्रव्यकी पूर्व अवस्थाके त्यागपूर्वक उत्तर अवस्थाका होना उत्पाद है। सत् (द्रव्य) का उत्पाद नहीं होता। वह तो ध्रुवरूप रहता है।

ध्रौव्यका स्वरूप—

पूर्वावस्था-विगमेऽप्युत्तरपर्याय-समुत्पादे हि ।
उभयावस्थाव्यापि च तद्भावाव्ययमुवाच तन्नित्यम् ॥१८॥

अर्थ—जो पदार्थकी पूर्व पर्यायके विनाश और उत्तर पर्यायके उत्पाद होनेपर भी उन पूर्व और उत्तर दोनों ही अवस्थाओंमें व्याप्त होकर रहने वाला है अर्थात् उनमें विद्यमान रहता है और जिसको आचार्य उमास्वातिने 'तद्भावाव्ययं नित्यम्' (तत्त्वा० ५-३१) कहा है अर्थात् वस्तुके स्वभावका व्यय (विनाश) न होनेको नित्य प्रतिपादित किया है वह ध्रौव्य है†।

भावार्थ—एक वस्तुमें अविरोधी जो क्रमवर्ती पर्यायें होती हैं उनमें पूर्व पर्यायोंका विनाश होता है, उत्तर पर्यायोंका समुत्पाद होता है, और इस तरह उत्पाद-व्ययके होने हुए भी द्रव्य जो

---

† 'अनादिपारिणामिकभावेन व्ययोदयाभावात् ध्रुवति स्थिरीभवतीति ध्रुवः, ध्रुवस्य भावः ध्रौव्यम् ।' सर्वार्थसिद्धि ५—३०

अपने स्वरूपको नहीं छोड़ता है यही उसकी ध्रौव्यता अथवा नित्यता है। जिस तरह एक ही सुवर्ण कटक, कुण्डल, केयूर, हार, आदि विभिन्न आभूषण-पर्यायोंमें उत्पाद-व्यय करता हुआ भी अपने सुवर्णत्वसामान्यकी अपेक्षा ज्योंका त्यों क़ायम रहता है, और यह स्वर्णत्व ही स्वर्णका नित्य अथवा ध्रौव्यपना है।

द्रव्य, गुण और पर्यायका सत्स्वरूप—

सद्द्रव्यं सच्च गुणः सत्पर्यायः स्वलक्षणाद्भिन्नाः।
तेषामेकास्तित्वं सर्वं द्रव्यं प्रमाणतः सिद्धम् ॥ २० ॥

अर्थ—सत् द्रव्य है, सत् गुण है और सत् पर्याय है—अर्थात् द्रव्य, गुण और पर्याय ये तीनों ही सत्स्वरूप हैं और यद्यपि अपने अपने लक्षणोंसे वे भिन्न हैं तथापि उन तीनोंका सत्की दृष्टिसे एक अस्तित्व है और इस लिये सत्सामान्यकी अपेक्षासे सभी प्रमाणसे द्रव्य सिद्ध हैं। किन्तु सत् विशेषकी अपेक्षासे तो तीनों पृथक् पृथक् ही हैं।

भावार्थ—द्रव्य, गुण और पर्याय ये तीनों ही सत्स्वरूप हैं; किन्तु लक्षण-भिन्नतासे तीनोंका अस्तित्व जुदा जुदा है। ये एक ही द्रव्यमें रहते हैं—फिर भी अपनी अवान्तर-सत्ताको नहीं छोड़ते।

ध्रौव्यादिका द्रव्यसे कथंचित भिन्नत्व—

ध्रौव्योत्पादविनाशा भिन्ना द्रव्यात्कथंचिदिति नयतः।
युगपत्सन्ति विचित्रं स्याद्द्रव्यं तत्कुदृष्टिरिह नेच्छेत् ॥२१॥

अर्थ—ध्रौव्य, उत्पाद और विनाश ये द्रव्यमें नयदृष्टि (पर्यायार्थिकनय) से कथंचित् भिन्न हैं और तीनों द्रव्योंमें युगपत्

* 'सद्दव्वं सच्च गुणो सच्चेव य पज्जओ........।'
—प्रवचनसारे, श्रीकुन्दकुन्दाचार्यः।

होते हैं। इस विचित्र नानारूप (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक) द्रव्य-को एकान्ती नहीं मानते।

भावार्थ—उपर्युक्त उत्पादादि तीनों द्रव्यसे कथंचित् भिन्न हैं और वे प्रतिक्षण एक साथ होते रहते हैं। एकान्तवादी अनुभवसिद्ध इस नानारूप द्रव्यको स्वीकार नहीं करते। वे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यको अलग अलग क्षणमें मानते हैं। उनका कहना है—कि जिस समय उत्पाद होगा उस समय व्यय नहीं होगा और जिस समय व्यय होगा उस समय उत्पाद या ध्रौव्य नहीं हो सकता, इस तरह एक कालमें तीनों नहीं बन सकते; किन्तु उनका यह कहना ठीक नहीं है। जिस प्रकार दीपक जलाते ही प्रकाशकी उत्पत्ति और तमो-निवृत्ति तथा पुद्गलरूपसे स्थिति ये तीनों एक ही समयमें होते हैं† उसी प्रकार समस्त पदार्थोंमें उत्पाद व्यय और ध्रौव्य एक ही साथ होते हैं।

उत्पादादि और गुण-गुण्यादिमें अविनाभावका प्रतिपादन—

अविनाभावो विगम-प्रादुर्भाव-ध्रुवत्रयाणां च।
गुणि-गुण-पर्यायाणामेव तथा युक्तितः सिद्धम् ॥२२॥

अर्थ—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनोंका परस्पर अविनाभाव है तथा गुण, गुणी और पर्यायोंका भी अविनाभाव युक्तिसे सिद्ध है।

भावार्थ—उत्पाद, व्ययके बिना नहीं होता, व्यय, उत्पादके बिना नहीं होता तथा उत्पाद और व्यय ये दोनों ध्रौव्यके बिना नहीं होते, और ध्रौव्य उत्पाद-व्ययके बिना नहीं होता, इसलिये

---

† 'नैवासतो जन्म सतो न नाशो दीपस्तमः पुद्गलभावतोऽस्ति'
—स्वयंभूस्तो० का २४

ये तीनों परस्परमें अविनाभूत हैं*। जैसे घड़ेका उत्पाद, मिट्टीके पिंडका विनाश और दोनोंमें मिट्टीका मौजूद रहना ये तीनों एक साथ उपलब्ध होते हैं। उसी तरह प्रत्येक पदार्थमें भी उत्पादादि तीनोंका अविनाभाव समझना चाहिये। इसी तरह गुणी, गुण तथा पर्यायोंका भी अभिनाभाव है। गुणीमें गुण रहते हैं वे उससे पृथक् नहीं हैं। और गुणी गुणोंके साथ ही उपलब्ध होता है, गुणोंके बिना नहीं। जैसे जीव और उसके ज्ञानादिगुणोंका परस्परमें अविनाभाव है। ज्ञानादिगुण जीवमें ही पाये जाते हैं और जीव भी ज्ञानादिगुणोंके साथ ही उपलब्ध होता है। अतः उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यकी तरह गुण, गुणी और पर्यायोंमें भी अविनाभाव प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे सिद्ध है।

द्रव्यमें सत्व और असत्वका विधान—

स्वीयाच्चतुष्टयात्किल सदिति द्रव्यं ह्यबाधितं गदितम्।
परकीयादिह तस्मादसदिति कस्मै न रोचते तदिदम् ॥२३॥

अर्थ—स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल और भावरूप अपने चतुष्टयसे द्रव्य सत् है—अस्तित्वरूप कहा गया है, इसमें कोई बाधा नहीं आती। और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप परकीय चतुष्टयसे द्रव्य असत्-नास्तित्वरूप है। वस्तुका यह नास्तित्व स्वरूप किसके लिये रुचि-कर नहीं होगा? अर्थात् विचार करनेपर सभीको रुचिकर होगा।

भावार्थ—द्रव्य अपने चतुष्टयसे सत्स्वरूप है और परकीय चतुष्टयसे असत्रूप है। जैसे घट अपने चतुष्टयसे घटरूप है

---

* ण भवो भंगविहीणो भंगो वा णत्थि संभवविहीणो।
उप्पादो वि य भंगो ण विणा धोव्वेण अत्थेण ॥
—प्रवचनसारे, श्रीकुन्दकुन्दाचार्यः

और पटादि परद्रव्यचतुष्टयसे वह घटरूप नहीं है। यदि घटको स्वद्रव्यादिचतुष्टयकी अपेक्षा सद्रूप न माना जाय तो आकाश-कुसुमकी तरह उसका अभाव होजावेगा। और परद्रव्यादि चतुष्टय-की अपेक्षा यदि घटको असद्रूप न माना जाय तो घटको भी पटादिरूप कहनेमें कोई बाधा नहीं आएगी, और इससे सब-व्यवहारका लोप होजायगा। इससे यह निश्चित है कि प्रत्येक वस्तु स्वचतुष्टयकी अपेक्षा सत् है और परचतुष्टयकी अपेक्षा असत् है। ऊपर बताये हुए सत्व और असत्वरूप दोनों धर्म प्रत्येक वस्तुमें एक साथ पाये जाते हैं, वे उससे सर्वथा भिन्न नहीं हैं। यदि इन्हें सर्वथा भिन्न माना जाय तो वस्तुके स्वरूपकी प्रतिष्ठा नहीं बन सकती—सत्व और असत्वमें परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध है। जैसा कि स्वामी समन्तभद्रके आप्त-मीमांसागत वाक्योंसे प्रकट है*।

द्रव्यमें एकत्व और अनेकत्वकी सिद्धि—

एकं पर्ययजातैः समप्रदेशैरभेदतो द्रव्यम्।
गुणि-गुणभेदान्नियमादनेकमपि न हि विरुद्धयेत ॥२४॥

अर्थ—द्रव्य अपनी पर्यायों और समप्रदेशोंसे अभिन्न होनेके कारण एक है और गुण-गुणीका भेद होनेसे निश्चयसे अनेक भी हैं। द्रव्यकी यह एकानेकता विरुद्ध नहीं है।

भावार्थ—द्रव्यके स्वरूपका जब हम नय-दृष्टिसे विचार करते हैं तो द्रव्य एक और अनेक दोनोंरूप प्रसिद्ध होता है; क्योंकि

---

* अस्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि।
विशेषणत्वात्साधर्म्यं यथा भेदविवक्षया ॥१७॥
नास्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि।
विशेषणत्वाद्वैधर्म्यं यथाऽभेदविवक्षया ॥१८॥

अपने समप्रदेशों और पर्यायोंसे वह अभिन्न है—भिन्न नहीं है, इसलिये तो एकरूप है। परन्तु जब हम उसी द्रव्यका गुण-गुणी-के भेदसे विचार करते हैं तब हमें उसमें गुणी और गुणका स्पष्ट भेद मालूम होता है अतः अनेकरूप है, और द्रव्यकी यह एकता तथा अनेकता कोई विरुद्ध नहीं है। भिन्न भिन्न अपेक्षाओंसे रहनेवाले धर्मोंमें विरोध-जैसी कोई चीज रहती ही नहीं।

द्रव्यमें नित्यता और अनित्यताका प्रतिपादन—

नित्यं त्रिकाल-गोचर-धर्मत्वात्प्रत्यभिज्ञतस्तदपि।
क्षणिकं काल-विभेदात्पर्यायनयादभाणि सर्वज्ञैः ॥२५॥

इति श्रीमदध्यात्मकमलमार्तण्डाभिधाने शास्त्रे द्रव्यसामान्य-लक्षणसमुद्द्योतको द्वितीयः परिच्छेदः।

अर्थ—द्रव्यार्थिकनयसे अथवा तीनों कालोंमें रहनेवाले द्रव्य-के अन्वयको विषय करनेवाले प्रत्यभिज्ञानप्रमाणसे द्रव्य नित्य है और कालभेदरूप पर्यार्थिकनयसे क्षणिक—अनित्य है। इस प्रकार सर्वज्ञदेवने द्रव्यको नित्य और अनित्य दोनोंरूप कहा है।

भावार्थ—केवल द्रव्यको विषय करनेवाले द्रव्यार्थिकनयसे और भूत-भविष्यत्-वर्तमानरूप त्रिकालको विषय करने वाले प्रत्यभिज्ञानसे द्रव्य नित्य है। और केवल पर्यायको विषय करनेवाले कालभेदरूप पर्यायार्थिकनयसे द्रव्य क्षणिक (अनित्य) है। जैसे एक ही सुवर्णद्रव्यके कटक, कुण्डल, केयूर आदि अनेक आभूषण बना लेनेपर भी द्रव्यत्वरूपसे उन सब आभूष-णोंमें सुवर्णत्व विद्यमान रहता है—उसके पीतत्वादि गुणोंका किंचित् भी विनाश नहीं होता, अतः द्रव्यत्वसामान्यकी अपेक्षासे सुवर्ण नित्य है; किन्तु इसीका जब हम पर्याय-दृष्टिसे विचार

करते हैं तब कुण्डलको मिटाकर हार बना लेनेपर हार-पर्यायके समयमें कुण्डलरूप पर्याय नहीं रहती है। अतः पर्यायोंकी अपेक्षा सुवर्णद्रव्य अनित्य रूप भी है।

इस प्रकार श्रीअध्यात्म-कमल-मार्तण्ड नामके शास्त्रमें द्रव्योंका सामान्यलक्षण प्रतिपादन करनेवाला द्वितीय परिच्छेद पूर्ण हुआ।

तृतीय परिच्छेद

(१) जीव-द्रव्य-निरूपण

जीवद्रव्यके कथनकी प्रतिज्ञा—

जीवो द्रव्यं प्रमिति-विषयं तद्गुणाश्चेत्यनन्ताः
पर्यायास्ते गुणि-गुणभवास्ते च शुद्धा ह्यशुद्धाः।
प्रत्येकं यस्तदखिलनयाधीनमेव स्वरूपम्
तेषां वक्ष्ये परमगुरुतोऽहं च किंचिज्ज्ञ एव ॥ १ ॥

अर्थ—'जीव' द्रव्य है, प्रमाणका विषय है—प्रमाणसे जानने योग्य है, अनन्तगुणवाला है—प्रमाणसे सिद्ध उसके अनन्त गुण हैं, तथा गुणी और गुण इन दोनोंसे होनेवाली शुद्ध और अशुद्ध ऐसी दो प्रकारकी पर्यायोंसे युक्त है। इनमें प्रत्येकका स्वरूप सभी नयोंसे जाना जाता है—द्रव्यार्थिकनयसे द्रव्य और गुणोंका तथा पर्यायार्थिकनयसे पर्यायोंका स्वरूप (लक्षण) प्रसिद्ध होता है। अथवा यों कहिये कि इन द्रव्य, गुण और पर्यायोंकी

सिद्धि तत्तत् नयकी अपेक्षासे होती है। मैं अल्पज्ञ 'राजमल्ल' परम गुरु-श्रीअरहंत भगवान्‌के उपदेशानुसार उन सब द्रव्यों, गुणों और पर्यायोंका स्वरूप कथन करूँगा—अपनी बुद्धिके अनुसार उनका यथावत् निरूपण आगे करता हूँ।

भावार्थ—चैतन्यस्वरूप जीवद्रव्य है। यह प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाणोंसे जाना जाता है। तथा अनन्त पर्यायों और अनन्तगुणोंसे विशिष्ट होनेके कारण द्रव्य है। क्योंकि गुण और पर्यायवाले पदार्थको द्रव्य कहा गया है*। और पर्यायें चूँकि शुद्ध और अशुद्ध दो प्रकारकी हैं, इसलिये जीव भी दो तरहके हैं†—शुद्ध जीव और अशुद्ध जीव। अथवा भव्यजीव और अभव्यजीव। जो जीव रत्नत्रय-प्राप्तिके योग्य हों—आगामीकालमें सम्यग्दर्शनादि परिणामसे युक्त होंगे, वे भव्यजीव हैं—शुद्ध जीव हैं—और जो रत्नत्रय-प्राप्तिके योग्य न हों—सम्यग्दर्शनादिको प्राप्त न कर सकें वे अभव्यजीव हैं—अशुद्ध जीव हैं। भव्य और अभव्य ये दो तरहके जीव स्वभावसे ही हैं‡। उदाहरणके द्वारा इनको इस प्रकार समझिये कि, कोई स्वर्णपाषाण ऐसा होता है जो तापन, छेदन, ताडन आदि क्रियाओंके करनेसे शुद्ध हो जाता है, पर अन्धपाषाण कितने ही कारणोंके मिल जानेपर भी पाषाण ही रहता है—शुद्ध होता ही नहीं। इसी तरह जो जीव, सम्यक्त्वादिको प्राप्त करके शुद्ध हो सकते हैं उन्हें भव्य-जीव कहा है और जो अंधपाषाणकी

---

* 'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्'—तत्त्वार्थ० ५-३८।

† 'जीवास्ते शुद्ध्यशुद्धितः'—आप्तमी० का ९९।

‡ 'शुद्ध्यशुद्धी पुनः शक्ती ते पाक्यापाक्यशक्तिवत्।
साद्यनादी तयोर्व्यक्ती स्वभावोऽतर्कगोचरः ॥' —आप्तमी० १००।

तरह कभी भी शुद्ध न होवेंगे—अपनी स्वाभाविक अशुद्धतासे सदैव लिप्त रहेंगे—वे अभव्यजीव हैं×। यह स्वभावगत चीज है और स्वभाव अतर्क्य होता है।

'जीव'का व्युत्पत्तिपूर्वक लक्षण—

प्राणैर्जीवति यो हि जीवितचरो जीविष्यतीह ध्रुवं
जीवः सिद्ध इतीह लक्षणबलात्प्राणास्तु सन्तानिनः।
भाव-द्रव्य-विभेदतो हि बहुधा जंतो कथंचित्त्वतः
साक्षात् शुद्धनयं प्रगृह्य विमला जीवस्य ते चेतना ॥२॥

अर्थ—जो 'प्राणोंसे जी रहा है, जिया था और निश्चयसे जीवेगा' इस लक्षणके अनुसार वह 'जीव' नामका द्रव्य है। और ये प्राण सन्तानी—अन्वयी—जीव और पुद्गल द्रव्यके साथ अविष्वक्भाव (तादात्म्य) सम्बन्ध रखनेवाले कहे गये हैं। ये प्राण द्रव्य और भावके भेदसे अनेक प्रकारके—दो तरहके हैं। ये जीव द्रव्यसे कथंचित्—किसी एक अपेक्षासे—भिन्न और किसी एक अपेक्षासे अभिन्न हैं। शुद्ध निश्चयनयसे तो जीव द्रव्यकी निर्मल चेतना—ज्ञान-दर्शनरूप उपयोग ही प्राण हैं।

भावार्थ—व्यवहारनयसे इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास इन यथासम्भव चार प्राणों द्वारा जो जीता है, पहले जिया था और आगे जीवेगा वह जीव पदार्थ है। निश्चयनयसे तो जिसके

× 'सम्यक्त्वादि-व्यक्तिभावाऽभावाभ्यां भव्याऽभव्यत्वमिति विकल्पः, कनकेतरपाषाणवत्। यथा कनकभावव्यक्तियोगमवाप्स्यति इति कनकपाषाण इत्युच्यते तदभावादन्धपाषाण इति। तथा सम्यक्त्वादिपर्यायव्यक्तियोगार्हो यः स भव्यः तद्विपरीतोऽभव्य इति'—राजवार्तिक ८-६।

चेतना (ज्ञान और दर्शन) लक्षण प्राण पाये जावें वह जीव है। यह चेतना संसारी और मुक्त दोनों ही प्रकारके जीवोंमें होती है। और त्रिकालाबाधित-अनवच्छिन्नरूपसे हमेशा विद्यमान रहती है*। वे प्राण दो तरहके हैं १ द्रव्यप्राण और २ भावप्राण। पुद्गलद्रव्यरूप इन्द्रियादि दश प्राणोंको तो द्रव्यप्राण कहते हैं और जीवकी चेतना—ज्ञान और दर्शनको भावप्राण कहते हैं। अतएव शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षासे 'चेतना' रूप ही प्राण कहे गये हैं। द्रव्यप्राण दश हैं—इन्द्रिय ५ (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र), बल ३ (मन, वचन और काय) श्वासोच्छ्वास १ तथा आयु १ इस तरह पुद्गलकी रचनास्वरूप द्रव्यप्राण कुल १० हैं। इन दोनों ही प्रकारके द्रव्य और भावप्राणोंको धारण करनेसे

---

१ तिक्काले चदुपाणा इंदियबलमाउ आणपाणो य।
 ववहारा सो जीवो णिच्चयणयदो दु चेदणा जस्स ॥—द्रव्यसं० ३

'इत्थंभूतश्चतुर्भिर्द्रव्यभावप्राणैर्यथासंभवं जीवति, जीविष्यति, जीवितपूर्वो वा यो व्यवहारनयात् स जीवः। द्रव्येन्द्रियादिद्रव्यप्राणा अनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण, भावेन्द्रियादिः क्षायोपशमिकप्राणाः पुनरशुद्धनिश्चयनयेन। सत्ताचैतन्यबोधादिः शुद्धभावप्राणाः शुद्धनिश्चयनयेनेति'

—बृहद्द्रव्यसंग्रहवृत्ति, गाथा ३

'पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीवस्सदि जो हु जीवदो पुव्वं।
 सो जीवो पाणा पुण बलमिंदियमाउ उस्सासो'॥—पंचास्ति० ३०

टी०—'इन्द्रियबलायुरुच्छ्वासलक्षणा हि प्राणाः। तेषु चित्सामान्यान्वयिनो भावप्राणाः, पुद्गलसामान्यान्वयिनो द्रव्यप्राणाः, तेषामुभयेषामपि त्रिष्वपि कालेष्वनवच्छिन्नसंतानत्वेन धारणात्संसारिणो जीवत्वं। मुक्तस्य तु केवलानामेव भावप्राणानां धारणात्तदवसेयमिति'।

—श्रीअमृतचन्द्राचार्यः

संसारी जीवोंमें 'जीवत्व' है और केवल भावप्राणोंको धारण करनेसे मुक्त जीवोंमें 'जीवपना' है।

'जीव' द्रव्यकी अपने ही प्रदेश, गुण और पर्यायोंसे सिद्धि—

संख्यातीतप्रदेशास्तदनुगतगुणास्तद्भवाश्चापि भावाः
एतद्द्रव्यं हि सर्वं चिदभिदधिगमात्तन्तुशौक्ल्यादिपुञ्जे।
सर्वस्मिन्नेव बुद्धिः पट इति हि यथा जायते प्राणभाजां
सूक्ष्मलक्ष्म प्रवेत्ति प्रवरमतियुतः क्वापि काले नचाज्ञः ॥३॥

अर्थ—जीवद्रव्यके असंख्यात प्रदेश, अन्वयी (साथ रहनेवाले) गुण और तद्भव (उनसे होनेवाले) भाव-पर्याय ये सब जीवद्रव्य हैं; क्योंकि इन प्रत्येकमें चेतनाकी ही अभेदरूपसे उपलब्धि होती है। जैसे तन्तु और शुक्लता आदिके समूहमें लोगोंको पट-की बुद्धि होती है। अतएव वे सब पट ही कहलाते हैं। प्रवरमति-बुद्धिमान पुरुष इनके सूक्ष्म लक्षणको—जीवद्रव्यके प्रदेश, गुण और उसकी पर्यायोंको 'जीवद्रव्य' कहनेके रहस्यको—समझ लेता है पर अज्ञ—मन्दबुद्धि पुरुष कभी नहीं जान पाता।

भावार्थ—जिस प्रकार तन्तु और शुक्लता आदि सब पट कहे जाते हैं अथवा द्रव्य, गुण और पर्याय ये सब ही जिस प्रकार सत् माने जाते हैं। सत् द्रव्य है सत् गुण है और सत् पर्याय है इस तरह सत् तीनोंमें अविष्वक्भावसे रहता है। यदि केवल द्रव्य ही अथवा गुण या पर्याय ही सत् हो तो शेष असत्—खपुष्पवत् होजायेंगे। अतः द्रव्य, गुण और पर्याय तीनोंमें ही सत् समान-रूपसे व्याप्त है और इसलिये तीनों सत् कहे जाते हैं। उसी प्रकार जीवद्रव्यके प्रदेश, उसके गुण और पर्यायें ये सब भी जीवद्रव्य हैं; क्योंकि इन तीनों ही में चैतन्यकी अभेदरूपसे उपलब्धि होती

है। बुद्धिमान् पुरुषोंके लिये यह सूक्ष्म-तत्व समझना कठिन नहीं है। हाँ, मन्दबुद्धियोंको कठिन है। हो सकता है वे इस तत्वको न समझ सकें। पर यह जरूर है कि वे भी अभ्यास करते करते समझ सकते हैं और वस्तुस्वभावका निर्णय कर सकते हैं।

जीवद्रव्यका शुद्ध और अशुद्धरूप—

जीवद्रव्यं यथोक्तं विविधविधियुतं सर्वदेशेषु याव-
द्भावैः कर्मप्रजातैः परिणमति यदा शुद्धमेतन्न तावत् ।
भावापेक्षाविशुद्धो यदि खलु विगलेद्घातिकर्मप्रदेशः
साक्षाद्द्रव्यं हि शुद्धं यदि कथमपि वाऽघातिकर्मापि नश्येत्॥४

अर्थ—जीवद्रव्य, जैसा कि कहा गया है, जबतक नानाविध कर्मोंसे सहित है और कर्मजन्य पर्यायोंके द्वारा सब क्षेत्रोंमें परिणमन करता है तबतक यह शुद्ध नहीं है—अशुद्ध है। यदि घातिया—जीवके अनुजीवी गुणोंको घातनेवाले ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार कर्म आत्मासे सर्वथा अलग होजावें तो वह भावोंकी अपेक्षा विशुद्ध है और यदि किसी प्रकार अघातिया कर्म भी नाशको प्राप्त हो जावें तो साक्षात्—पूर्णतः शुद्धद्रव्य है। इस तरह जीवद्रव्य शुद्ध और अशुद्धके भेदसे दो प्रकार अथवा शुद्ध, अशुद्ध और विशुद्धके भेदसे तीन प्रकारका है।

भावार्थ—जीवद्रव्यके साथ जबतक कर्मरूपी बीज लगा हुआ है तबतक भवाङ्कुर पैदा होता रहता है और जन्म-मरण आदि रूपसे विभाव परिणमन होते रहते हैं और तभी तक जीव अशुद्ध है। परन्तु संयम, गुप्ति, समिति आदि संवर और निर्जराके द्वारा जब घातिया कर्मोंके क्षीण होजानेपर अनन्तचतुष्टयका धनी

सकल (सदेह) परमात्मा होजाता है तब वह विशुद्ध आत्मा-उत्कृष्ट आत्मा कहा जाता है। तथा जब अवशेष चार अघातिया कर्मोंके भी क्षीण हो जानेपर आठगुणों या अनन्तगुणोंका स्वामी निकल (विदेह) परमात्मा हो जाता है तब वह पूर्ण शुद्ध आत्मा अर्थात् सर्वोत्कृष्ट-आत्मा माना गया है, और ऐसी सर्वोत्कृष्ट आत्माओंको जैन-शाशनमें 'सिद्ध' परमेष्ठी कहा गया है।

जीवद्रव्यके सामान्य और विशेषगुणोंका कथन—

संख्यातीतप्रदेशेषु युगपदनिशं विष्नवंश्चिद्विशेषा-
स्ते सामान्या विशेषाः परिणमनभवाऽनेकभेदप्रभेदाः।
नित्यज्ञानादिमात्राश्चिदवगमकरा ह्युक्तिमात्रप्रभिन्नाः
श्रीमर्वज्ञैर्गुणास्ते ममुदितवपुषो ह्यात्मतत्त्वस्य तत्त्वात् ॥५॥

अर्थ—अपने असंख्यात प्रदेशोंमें एक साथ निरन्तर व्याप्त रहनेवाले चैतन्य आदि जीवद्रव्यके सामान्य गुण हैं और यथार्थ-रूपसे आत्मतत्त्वके ज्ञायक—ज्ञान करानेवाले, परिणमनजन्य, अनेक भेदों और प्रभेदोंसे युक्त, कथनमात्रमें भिन्न, समूहरूप, नित्यज्ञानादि गुणोंको श्रीसर्वज्ञदेवने विशेषगुण कहा है।

भावार्थ—जीवद्रव्यके समस्तगुण दो भेदरूप हैं:—१ सामान्य-गुण, और २ विशेषगुण। सामान्यगुण वे हैं जो जीवद्रव्यके प्रत्येक प्रदेशमें—सर्वत्र व्याप्त होकर-रह रहे हैं और वे चेतना आदि हैं तथा विशेषगुण वे हैं जो इसी चेतनाके परिणाम हैं और अनेक भेदरूप हैं। वे दर्शन, ज्ञान, सुख और वीर्य आदि रूप हैं।

मुक्ति अवस्थामें जीवद्रव्यके स्वभाव-परिणमनकी सिद्धि—

मुक्तौ कर्मप्रमुक्तौ परिणमनमदः स्वात्मधर्मेषु शश्व-
द्धर्माशैश्च स्वकीयागुरुलघुगुणतः स्वागमात्सिद्धसत्त्वात् ।
युक्तेः शुद्धात्मनां हि प्रमितिविषयतस्ते गुणानां स्वभावा-
त्पर्यायाः स्युश्च शुद्धा भवनविगमरूपास्तु वृद्धेश्च हानेः ॥६॥

अर्थ—द्रव्य और भाव कर्मोंसे सर्वथा छूटना मुक्ति है। मुक्तिमें आत्मा आगम-प्रमाणसे सिद्ध अपने अनन्तानन्त अगुरुलघुगुणोंके निमित्तसे अपने आत्मधर्मों—स्वभावपर्यायोंमें—धर्मांशोंसे—स्वभावपर्यायोंके द्वारा सदा परिणमन करता है। युक्ति और प्रमाणसे यह बात प्रतीत होती है कि शुद्धात्माओंमें और उनके गुणोंमें षट्स्थानपतित हानि और वृद्धि होनेसे उत्पाद तथा व्ययरूप शुद्ध ही स्वभाव-पर्यायें हुआ करती हैं।

भावार्थ—मोक्ष अवस्थामें जीवद्रव्यमें स्वभावपर्यायें—आत्माके निजस्वभावरूप परिणमन होते हैं। वहाँ विभाव पर्यायें नहीं होतीं; क्योंकि विभावपर्यायोंको उत्पन्न करनेका कारण कर्म है और कर्म मुक्तिमें रहता नहीं। अतः मुक्तिमें विभावपर्यायोंका बीज न होनेसे वहाँ उनकी सम्भावना नहीं है और इसलिये मोक्षमें मुक्तात्माओंका शुद्ध स्वभावरूपसे ही परिणमन होता है।

जीवद्रव्यके वैभाविक भावोंका वर्णन—

संसारेऽत्र प्रसिद्धे परमसमयवति प्राणिनां कर्मभाजां
ज्ञानावृत्यादिकर्मोदयसमुपशमाभ्यां क्षयाच्छान्तितो वा ।
ये भावाः क्रोधमानादिसमुपशमसम्यक्त्ववृत्तादयो*हि
बुद्धिश्रुत्यादिबोधाः कुमतिकुदृगचारित्रगत्यादयश्च ॥ ७ ॥

---

* 'क्रोधमानादिसमुपशमाभ्यां सम्यक्त्वादयो' इत्यपि पाठः।

चक्षुर्दृष्ट्यादि चैतद्धि समलपरिणामाश्च संख्यातिरिक्ताः
सर्वे वैभाविकास्ते परिणतिवपुषो धर्मपर्यायसंज्ञाः।
प्रत्यक्षादागमाद्वा ह्यनुमितिमतितो लक्षणाच्चेति सिद्धा-†
स्तत्सूक्ष्मान्तःप्रभेदाश्च गतसकलदृग्मोहभावैर्विवेच्याः‡ ॥८॥
—(युग्मम्)

अर्थ—पर-परिणमनरूप इस संसारमें कर्मसहित जीवोंके ज्ञानावरणादिकर्मोंके उदय, उपशम, क्षय और शान्ति अर्थात् क्षयोपशमसे यथायोग्य जो क्रोध, मानादि, उपशमसम्यक्त्व, क्षायोपशमिकसम्यक्त्व, उपशमचरित्रादि, बुद्धि, श्रुति आदि सम्यग्ज्ञान, मिथ्याज्ञान, मिथ्यदर्शन, मिथ्याचरित्र, गति और चक्षुर्दर्शन आदि भाव तथा और भी संख्यातीत मलिन परिणाम पैदा होते हैं—वे सभी वैभाविक परिणाम हैं। तथा धर्मपर्यायसंज्ञक हैं। ये सब ही प्रत्यक्षसे, आगमसे अथवा अनुमानसे और लक्षणोंसे सिद्ध हैं। इनके भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेद और भेदोंके भी भेद (प्रभेद) श्रीवीतरागदेवके द्वारा प्रतिपाद्य हैं—श्री सर्वज्ञ भगवान् ही इनका विशेष निरूपण करनेमें समर्थ हैं।

भावार्थ—जीव द्रव्यमें एक वैभाविक शक्ति है वह संसार अवस्थामें कर्मके निमित्तसे क्रोध, मान, माया आदि विभावरूप परिणमन कराती है और कर्मके छूट जानेपर वही वैभाविक शक्ति मुक्ति-अवस्थामें केवलज्ञान आदि स्वभावरूप ही परिणमन कराती है। इस प्रकार जीवद्रव्यके दो तरहके भाव हैं १ वैभाविकभाव और २ स्वाभाविकभाव। यहाँ इन दो पद्योंमें

† 'सिद्धः' इति मुद्रितप्रतौ पाठः।

‡ 'विवेच्यः' इति मुद्रितप्रतौ पाठः।

वैभाविक भावोंका कथन किया गया है। ये वैभाविक भाव संक्षेपमें तीन प्रकारके हैं—१ औदयिक २ औपशमिक और ३ क्षायोपशमिक। औदयिकभाव वे हैं जो कर्मके उदयसे होते हैं और वे गति आदि इक्कीस प्रकारके कहे गये हैं*। औपशमिकभाव वे हैं जो कर्मके उपशमसे होते हैं और वे उपशमसम्यक्त्व तथा उपशमचारित्रके भेदसे दो तरहके हैं†। जो भाव कर्मोंके क्षय और उपशम दोनोंसे होते हैं वे क्षायोपशमिक भाव कहे गये हैं, इनके भी उत्तरभेद १८ हैं‡।

जीवके समल और विमल दो भेदोंका वर्णन—

आत्माऽसंख्यातदेशप्रचयपरिणतिर्जीवतत्त्वस्य तत्त्वा-
त्पर्यायः स्यादवस्थान्तरपरिणतिरित्यात्मवृत्त्यन्तरो हि।
द्रव्यात्मा स द्विधोक्तो विमल-समलभेदाद्धि सर्वज्ञगीत-
श्चिद्द्रव्यास्तित्वदर्शी नयविभजना रोचनीयः प्रदक्षैः ॥९॥

अर्थ—अपने असंख्यात प्रदेशोंमें ही परिणमन करना जीवतत्त्वकी वास्तविक शुद्धपर्याय है और अवस्थासे अवस्थान्तर—पर्यायसे पर्यायान्तर—रूप परिणमन करना अशुद्ध पर्याय है। यह जीवतत्त्व चिद्द्रव्यके अस्तित्वका दर्शी है—देखनेवाला है,

* 'गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाऽज्ञानाऽसंयताऽसिद्धलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैक-षड्भेदाः' —तत्त्वार्थसूत्र २-६

† 'सम्यक्त्व-चारित्रे' —तत्त्वार्थसूत्र २-३

‡ 'ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदाः सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च'—तत्त्वार्थसूत्र २-५

नयों द्वारा विभजनीय है—विभागपूर्वक जानने योग्य है, और विद्वानों द्वारा रोचनीय है—प्राप्त करनेके योग्य हैं। इसके सर्वज्ञ-देवने दो भेद कहे हैं—(१) विमल आत्मा और (२) समल आत्मा। अथवा मुक्तजीव और संसारी जीव।

भावार्थ—द्रव्योंमें दो तरहकी शक्तियाँ विद्यमान हैं—(१) भाववती और (२) क्रियावती। जीव और पुद्गल द्रव्यमें तो भाववती और क्रियावती दोनों शक्तियाँ वर्णित की गई हैं तथा शेष चार द्रव्यों (धर्म, अधर्म, आकाश और काल) में केवल भाववती शक्ति कही गई है। इन दोनों शक्तियोंको लेकर द्रव्योंमें परिणमन होता है। भाववती शक्तिके निमित्तसे तो शुद्ध ही परिणमन होता है और क्रियावती शक्तिसे अशुद्ध परिणमन होता है। अतः भाववती शक्तिके निमित्तसे होनेवाले परिणमनोंको शुद्धपर्यायें कहते हैं और क्रियावती शक्तिके निमित्तसे होनेवाले परिणमन अशुद्धपर्यायें कही जाती हैं। यहाँ फलितार्थरूपमें यह कह देना अप्रासङ्गिक न होगा कि जीव और पुद्गलोंमें उभय शक्तियोंके रहनेसे शुद्ध और अशुद्ध दोनों प्रकारकी पर्यायें होती हैं। तथा शेप चार द्रव्योंमें केवल भाववती शक्तिके रहनेसे शुद्ध ही पर्यायें होती हैं। जीवद्रव्यमें जो स्वप्रदेशोंमें परिणमन होता है वह उसकी शुद्ध पर्याय है और कर्मके संयोगसे अवस्थासे अवस्थान्तररूप जो परिणमन होता है वह अशुद्ध पर्याय है। यह जीवद्रव्य भिन्न भिन्न व्यवहारादिनयों द्वारा जाननेके योग्य है। इसके दो भेद हैं—(१) मुक्तजीव और (२) संसारीजीव। कर्मरहित जीवोंको मुक्तजीव अथवा विमल-आत्मा कहते हैं और कर्मसहित जीवोंको संसारी-जीव अथवा समल-आत्मा कहते हैं। आगेके दो पद्योंमें इन दोनोंका स्वरूप ग्रन्थकार स्वयं कहते हैं।

विमल आत्मा (मुक्तजीव) का स्वरूप—

कर्मापाये चरमवपुषः किंचिदूनं शरीरं
स्वात्मांशानां तदपि पुरुषाकारसंस्थानरूपम् ।
नित्यं पिण्डीभवनमिति वाऽकृत्रिमं मूर्तिवर्ज्यं
चित्पर्यायं विमलमिति चाभेद्यमेवान्वग्यङ्गम् ॥ १० ॥

अर्थ—कर्मके सर्वथा छूट जानेपर अन्तिम शरीरसे कुछ न्यून (कम)* आत्मप्रदेशोंमें पुरुषाकाररूपसे स्थित, नित्य, पिण्डात्मक, अकृत्रिम, अमूर्तिक, अभेद्य और अन्वयी चित्पर्यायको 'विमल' आत्मा कहते हैं।

भावार्थ—विमल आत्मा अथवा मुक्त जीव वे हैं जो कर्म रहित हैं, अपने अन्तिम शरीरसे कुछ कम पुरुषाकाररूपसे परिणत आत्मप्रदेशोंके शरीररूप हैं, शाश्वत हैं—फिर कभी संसारमें लौटकर वापिस नहीं आते हैं, आत्मगुणोंके पिण्डभूत हैं, जन्म-मरणरूप कृत्रिमतासे रहित हैं, परद्रव्य-पुद्गलसे सम्बन्ध छूट जानेके कारण पुद्गलकी स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णरूप मूर्तिसे रहित हैं—अमूर्तिक हैं। अतएव शस्त्रादिसे भेदन रहित हैं और अपने अनन्तज्ञानादिगुणोंमें स्थिर हैं, चेतनद्रव्यकी शुद्धपर्यायरूप हैं। यहां जो मुक्त जीवोंको पर्यायरूप कहा है वह असङ्गत नहीं है, क्योंकि आत्माकी शुद्ध और अन्तिम सर्वोच्च अवस्था 'सिद्ध' पर्याय है जो सादि और अनन्त होती है और मुक्तजीव 'सिद्ध' कहे जाते हैं। फलितार्थ-जो आत्मा कर्मोंसे छूट गया है और अपने स्वाभाविक चैतन्यादि गुणोंमें लीन है वह विमल आत्मा-मुक्तजीव है।

* 'किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा'—द्रव्यसं० १४

'समल' आत्माका स्वरूप—

ये देहा देहभाजां गतिषु नरकतिर्यग्म-[illegible]ष्यादिकासु
स्वात्मांशानां स्वदेहाकृतिपरिणतिरित्यात्मपर्याय एव ।
द्रव्यात्मा चेत्यशुद्धो जिनवर[illegible]दितः कर्मसंयोगतो हि
देशावस्थान्तरश्चेत्तदितरवपुषि स्याद्विवर्तान्तरश्च ॥ ११ ॥

अर्थ—देहधारियोंको नरक, तिर्यंच और मनुष्य आदि गतियोंमें जो शरीर धारण (प्राप्त) करना पड़ते हैं तथा उन शरीरोंके आकार जो आत्म-प्रदेशोंका परिणमन होता है, उन दोनोंको जिनेन्द्र भगवान्‌ने अशुद्ध आत्मपर्याय और अशुद्ध आत्मद्रव्य कहा है तथा इसीको 'समल' आत्मा—अशुद्ध जीवद्रव्य—कहा गया है। क्योंकि आत्मा कर्मका संयोग होनेके कारण ही देशान्तर, अवस्थान्तर और अन्य शरीरमें प्रवेश करता है, अतः नारकादि शरीर और आत्मप्रदेशोंका स्वदेहाकार परिणमन अशुद्ध आत्मपर्याय और अशुद्ध आत्मद्रव्य हैं और ये दोनों ही 'समल' आत्मा हैं।

भावार्थ—यहाँ जो नारकादिशरीरको 'समल' आत्मा कहा गया है वह व्यवहारनयसे कहा है। अशुद्ध निश्चयनयसे स्वदेहाकारपरिणत आत्मप्रदेश अशुद्ध आत्मद्रव्य हैं अतएव दोनों ही 'समल' आत्मा हैं। इन्हींको संसारी जीव कहते हैं।

आत्माके अन्य प्रकारसे तीन भेद और उनका स्वरूप—

एकोऽप्यात्माऽन्वयात्स्यात्परिणतिमयतो भावभेदात्त्रिधोक्तः
[illegible]याद्वै परसमयरतत्वाद्बहिर्जीवसंज्ञः ।
भेदज्ञानाच्चिदात्मा स्वसमयवपुषो निर्विकल्पात्समाधेः
स्वात्मज्ञ[illegible]न्तरात्मा विगतसक[illegible]कर्मा स चेत्स्याद्विशुद्धः ॥ १२ ॥

अर्थ—अन्वय (सामान्य) की अपेक्षासे—द्रव्यार्थिकनयसे—आत्मा एक है किन्तु परिणामात्मक होनेके कारण—पर्यायार्थिकनयकी दृष्टिसे—भावोंको लेकर वह तीन प्रकारका कहा गया है* (१) बहिरात्मा, (२) अन्तरात्मा और (३) परमात्मा। पर-पर्यायमें लीन शरीरादि पर-वस्तुओंको अपना समझनेवाला आत्मा 'बहिरात्मा' है। भेदज्ञान और निर्विकल्पक समाधिसे आत्मामात्रमें लीन-शरीरादि पर-वस्तुओंको अपना न समझने और चिदानन्द स्वरूप आत्माको ही अपना समझनेके कारण स्वात्मज्ञ चैतन्य-स्वरूप आत्मा 'अन्तरात्मा' है तथा यही अन्तरात्मा सम्पूर्ण कर्म-रहित होजानेपर विशुद्ध आत्मा—'परमात्मा' कहा गया है।

भावार्थ—यद्यपि सामान्यदृष्टिसे आत्मा एक है तथापि परिणामभेदसे वह तीन प्रकारका है†—१ बहिरात्मा, २ अन्तरात्मा और ३ परमात्मा। जब तक प्रत्येक संसारी जीवकी शरीरादि परपदार्थोंमें आत्मबुद्धि रहती है या आत्मा मिथ्यात्वदशामें रहता है तब तक वह 'बहिरात्मा' कहलाता है। शरीरादिमें इस आत्मबुद्धिके त्याग होजाने और मिथ्यात्वके दूर होजानेपर जब आत्मा सम्यग्दृष्टि—आत्मज्ञानी होजाता है तब वह 'अन्तरात्मा' कहा जाता है। यह अन्तरात्मा भी तीन प्रकारका है—१उत्तम अन्तरात्मा, २ मध्यम अन्तरात्मा और ३ जघन्य अन्तरात्मा। समस्त

* 'तिपयारो सो अप्पा परमंतरबाहिरो हु देहीणं।
तत्थ परो झाइज्जइ अंतोवाएण चयहि बहिरप्पा ॥'—मोक्षप्रा० ४

† 'अक्खाणि बाहिरप्पा अन्तरअप्पा हु अप्पसंकप्पो।
कम्मकलंकविमुक्को परमप्पा भण्णए देवो ॥'—मोक्षप्रा० ५
'बहिरात्मा शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिरान्तरः।
चित्तदोषात्मविभ्रान्तिः परमात्माऽतिनिर्मलः ॥'—समाधितंत्र ५

परिग्रहके त्यागी, निस्पृह, शुद्धोपयोगी-आत्मध्यानी मुनीश्वर 'उत्तम अन्तरात्मा' हैं। देशव्रतोंको धारण करनेवाले गृहस्थ और छठे गुणस्थानवर्ती निर्ग्रन्थ साधु 'मध्यम अन्तरात्मा' हैं। तथा चतुर्थ-गुणस्थानवर्ती व्रतरहित सम्यग्दृष्टि जीव जघन्य अन्तरात्मा हैं। अन्तर्दृष्टि होनेसे ये तीनों ही अन्तरात्मा मोक्षमार्गमें चलनेवाले हैं। परमात्मा दो प्रकारके हैं—सकल परमात्मा और निकल परमात्मा। घातियाकर्मोंको नाश करनेवाले और सम्पूर्ण पदार्थों-को जाननेवाले श्रीअरहंत भगवान् 'सकल परमात्मा' हैं और सम्पूर्ण (घातिया और अघातिया) कर्मोंसे रहित, अशरीरी, सिद्ध परमेष्ठी 'निकल परमात्मा' हैं।

'आत्मा' के कर्तृत्व और भोक्तृत्वका कथन—

कर्ता भोक्ता कथंचित्परसमयरतः स्याद्धिधीनां हि शश्व-
द्रागादीनां हि कर्ता स समलनयतो निश्चयात्स्याच्च भोक्ता।
शुद्धद्रव्यार्थिकाद्वा स परमनयतः स्वात्मभावान् करोति
भुंक्ते चैतान् कथंचित्परिणतिनयतो भेदबुद्ध्याऽप्यभेदे॥१३॥

अर्थ—व्यवहारनयसे आत्मा पर-पर्यायोंमें मग्न होता हुआ पुद्गलकर्मोंका कथंचित् कर्ता और भोक्ता है तथा अशुद्धनिश्चय-नयसे रागद्वेषादि चेतन-भावकर्मोंका कर्ता और भोक्ता है। शुद्धद्रव्यार्थिक निश्चयनयकी अपेक्षा आत्मीक शुद्ध-ज्ञान-दर्शनादि-भावोंका ही कथंचित् कर्ता और भोक्ता है। यद्यपि ये ज्ञान-दर्शनादि भाव आत्मासे अभिन्न हैं तथापि पर्यायार्थिकनयकी दृष्टिसे भेद बुद्धि होनेके कारण भिन्न हैं। अतः आत्मा अपने ज्ञान-दर्शनादि-परिणामोंका कथंचित् कर्ता और भोक्ता कहा जाता है।

भावार्थ—व्यवहारनयसे आत्मा पुद्गल-द्रव्य-कर्मों, अशुद्ध निश्चयनयसे रागद्वेषादि-चेतन-भावकर्मों और शुद्धनिश्चनयसे केवल आत्मीय-ज्ञान-दर्शनादि-परिणामोंका कथंचित् कर्ता और भोक्ता माना गया है।

अन्तरात्माका विशेष वर्णन—

भेदज्ञानी करोति स्वसमयरत इत्यात्मविज्ञानभावान्
भुंक्ते चैतांश्च शश्वत्तदपरमपदे वर्तते सोऽपि यावत्।
तावत्कर्माणि बध्नाति समलपरिणामान्विधत्ते च जीवो
ह्यंशेनैकेन तिष्ठेत्स तु परमपदे चेन्न कर्ता च तेषाम् ॥२४॥

अर्थ—भेदज्ञानी अन्तरात्मा अपनी आत्मामें लीन रहता हुआ आत्मीय ज्ञानमय-भावोंका कर्ता और भोक्ता है। यह जबतक जघन्य पदमें—बहिरात्मा अवस्थामें—रहता है तबतक कर्मोंको बांधता है और अशुद्ध परिणामोंको करता है, किन्तु जब एक अंशसे रहता है—'आत्माको आत्मा समझता है और परको पर समझता है' इस रूपसे अपनी प्रवृत्ति करता है और ऐसी प्रवृत्ति परमपदमें—अन्तरात्मा अवस्थामें—ही बनती है, तब फिर इन अशुद्धभावोंका न कर्ता है और न भोक्ता। उस समय तो केवल अपने शुद्ध चेतन भावोंका ही कर्ता और भोक्ता है।

आत्मामें शुद्ध और अशुद्ध भावोंके विरोधका परिहार—

शुद्धाऽशुद्धा हि भावा ननु युगपदिति स्वैकतत्त्वे कथं स्यु-
रादित्याद्युद्योत-तमसोरिव जल-तपनयोर्वा विरुद्धस्वभावात्।
इत्यारेका हि ते चेन्न खलु नयबलात्तुल्यकालेऽपि सिद्धे-
स्तेषामेव स्वभावाद्धि करणवशतो [illegible] भावात्॥१५॥

शंका—एक आत्मामें परस्पर विरोधी शुद्ध और अशुद्धभाव कैसे संभव हैं ? क्योंकि इन दोनोंमें प्रकाश और अन्धकार तथा जल और अग्निकी तरह परस्पर विरोध है ?

समाधान—ऐसी शंका करना ठीक नहीं है; क्योंकि नयकी अपेक्षासे एक कालमें भी आत्माके परिणामोंके वशसे और उनका वैसा स्वभाव होनेसे परस्पर विरुद्ध मालूम पड़ रहे शुद्धाशुद्धभाव एक आत्मामें सम्भव हैं—अशुद्धनिश्चयनय या व्यवहारनयसे अशुद्धभाव और शुद्धनिश्चयनयकी अपेक्षासे शुद्धभाव कहे गये हैं। अतः एक आत्मतत्वमें इनके सद्भावमें कोई विरोध नहीं है।

भावार्थ—कालक्रमसे तो दोनों भाव एक आत्मामें सम्भव हैं ही; पर एक समयमें भी वे भाव अपेक्षाभेदसे सम्भव हैं। व्यवहारनय या अशुद्ध निश्चयनयकी विवक्षा या अपेक्षा होनेपर अशुद्धभाव और शुद्ध निश्चयनयकी विवक्षा एवं अपेक्षा होनेपर शुद्धभाव एक साथ स्पष्टतया सुप्रतीत होते हैं। आगे ग्रन्थकार इसका स्वयं खुलासा करते हैं।

आत्मामें शुद्ध और अशुद्धभावोंके होनेका समर्थन—

सद्दृग्मोहक्षतेः स्युस्तदुदयजनिभावप्रणाशाद्विशुद्धाः
भावा वृत्त्यावृतेर्वोदयभवपरिणामाप्रणाशादशुद्धाः ।
इत्येवं चोक्तरीत्या नयविभजनतो घोष इत्यात्मभावान्
दृष्टिं कृत्वा विशुद्धिं तदुपरितनतो भावतो शुद्धिरस्ति ॥१६॥

अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्मके उपशम अथवा क्षयसे तथा उसके ही उदयजन्यभावोंके नाशसे विशुद्धभाव और चारित्रमोहके उदयजन्य परिणामोंके नाश न होनेसे अर्थात् उनके सद्भावसे

अशुद्धभाव होते हैं—अविरत सम्यग्दृष्टि आदिके दर्शनमोहके उपशम अथवा क्षयसे औपशमिक या क्षायिक सम्यक्त्वरूप शुद्ध-भाव तथा चारित्रमोहके उदयसे औदयिक क्रोध-मान-मायादिरूप अशुद्धभाव सम्भव हैं—इनके होनेमें कोई विरोध नहीं है। इस प्रकार उक्त रीतिसे और नयभेदसे—नयविवक्षाको लेकर—शुद्धाशुद्ध आत्मभावोंके प्रति कथन है—उनका प्रतिपादन किया जाता है। इसके ऊपर—चतुर्थ गुणस्थानके आगे—तो सम्यग्दर्शनको शुद्ध करके भावकी अपेक्षा शुद्धि है।

भावार्थ—चौथे गुणस्थानमें एक ही आत्मामें शुद्ध और अशुद्ध दोनों तरहके भाव उपलब्ध होते हैं। दर्शनमोहनीय कर्मके क्षयसे क्षायिकरूप शुद्ध भाव और चारित्रमोहके उदयसे औदयिकरूप अशुद्धभाव स्पष्टतया पाये ही जाते हैं। अतः इनके एक जगह रहनेमें विरोधकी आशंका करना निर्मूल है।

उपयोगकी अपेक्षा आत्माके तीन भेद और शुभोपयोग तथा अशुभोपयोगका स्वरूप—

संक्लेशासक्तचित्तो विषयसुखरतः संयमादिव्यपेतो
जीवः स्यात्पूर्वबद्धोऽशुभपरिणतिमान् कर्मभारप्रवोढा।
दानेज्यादौ प्रसक्तः श्रुतपठनरतस्तीव्रसंक्लेशमुक्तो
वृत्त्याद्यालीढभावः शुभपरिणतिमान् सद्विधीनां विधाता॥१७॥

अर्थ—जो संक्लेश परिणामी है, विषय-सुखलंपटी है, संयमादिसे हीन है, पूर्वकर्मोंसे बद्ध है, ऐसा वह कर्मभारको ढोनेवाला जीव अशुभोपयोगी है। और जो दान, पूजा आदिमें लीन है, शास्त्रके पढ़ने-पढ़ाने और सुनने-सुनानेमें रत है—दत्तचित्त है—तीव्र संक्लेशोंसे रहित है, चारित्रादिसे सम्पन्न है, ऐसा शुभ-कर्मों—सत्प्रवृत्तियोंका कर्ता जीव शुभ परिणामी-शुभोपयोगी है।

भावार्थ—जो जीव हमेशा तीव्र संक्लेश परिणाम करता रहता है, पांच इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त रहता है, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य आदिका पालन नहीं करता है, अधिक परिग्रही और अधिक आरम्भी है, तीव्र कर्मोंवाला है वह अशुभ परिणामी कहा गया है। यह जीव सदा नवीन कर्मोंको ही बांधता और और उनके फलोंको भोगता रहता है। और इससे जो विपरीत है अर्थात् जो दयालु है, परका उपकारी है, मन्दकषायी है, दान-पूजा आदि सत्कार्योंमें तत्पर रहता है, सबका हितैषी है, संयम आदिका पालक है, तत्त्वाभ्यासी है, वह शुभ कार्योंका कर्ता शुभपरिणामी—अच्छे परिणामोंवाला—शुभोपयोगी कहा गया है।

शुद्धोपयोगी आत्माका स्वरूप—

शुद्धात्मज्ञानदक्षः श्रुतनिपुणमतिर्भावदर्शी पुराऽपि
चारित्रादिप्ररूढो विगतसकलसंक्लेशभावो मुनीन्द्रः।
साक्षाच्छुद्धोपयोगी स इति नियमवाचाऽवधार्येति सम्य-
क्कर्मघ्नोऽयं सुखं स्यान्नयविभजनतो सद्विकल्पोऽविकल्पः॥१८॥

अर्थ—जो भव्यात्मा शुद्धात्माके अनुभव करनेमें दक्ष है—समर्थ अथवा चतुर है, श्रुतज्ञानमें निपुण है, भावदर्शी है—पूर्व-कालीन अपने अच्छे या बुरे भावोंका द्रष्टा है अथवा मर्म-रहस्य-तत्त्वका जानकार है—अर्थात् वस्तुस्वरूपका ज्ञाता है, चारित्रादि-पर आरूढ है, सम्पूर्ण संक्लेशभावसे मुक्त है, ऐसा वह मुनीन्द्र—दिगम्बरमुद्राका धारक निर्ग्रन्थ-साधु—नियमसे साक्षात्—पूर्ण शुद्धोपयोगी—पुण्य-पापपरिणतिसे रहित शुद्ध उपयोगवाला है। यही महान् आत्मा कर्मोंका नाश करता हुआ परमसुखको प्राप्त

करता है। नयभेदसे यह शुद्धोपयोगी आत्मा दो प्रकारका है—१ सविकल्पक और २ अविकल्पक।

भावार्थ—जो महान् आत्मा अपने शुद्ध आत्माके ही अनुभवका रसास्वादन करता है, श्रुतनिष्णात है, सब तरहके संक्लेशपरिणामोंसे रहित है, चारित्रादिका पूर्ण आराधक है, पुण्य-पाप परिणतियोंसे विहीन हैं, सदा रत्नत्रयका उपासक है, उभय प्रकारके परिग्रहसे रहित पूर्ण निर्ग्रन्थ साधु है वह शुद्धोपयोगी आत्मा है। यह आत्मा कर्ममुक्त होता हुआ अन्तमें मोक्ष-सुखको पाता है। इसके दो भेद हैं—सविकल्पक और अविकल्पक। सातवें गुणस्थानवर्ती आत्मा 'सविकल्पक' शुद्धोपयोगी हैं और आठवें गुणस्थानसे लेकर चौदहवें गुणस्थान तकके आत्मा और सिद्ध परमात्मा 'अविकल्पक' शुद्धोपयोगी हैं।

(२) पुद्गल-द्रव्य-निरूपण

पुद्गलद्रव्यके वर्णनकी प्रतिज्ञा—

द्रव्यं मूर्तिमदाख्यया हि तदिदं स्यात्पुद्गलः सम्मतो
मूर्तिश्चापि रसादिधर्मवपुषो ग्राह्याश्च पंचेन्द्रियैः।
सर्वज्ञागमतः समक्षमिति भो लिङ्गस्य बोधान्मिता-
त्तद्द्रव्यं गुणवृन्द-पर्यय-युतं संक्षेपतो वच्म्यहम् ॥ १६ ॥

अर्थ—निर्विवादरूपसे मूर्तिमान् द्रव्यको 'पुद्गल' माना है—जिस द्रव्यमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये चार गुण पाये जाते हैं वह निश्चय ही पुद्गल है। और रस आदिरूप गुणशरीरका नाम 'मूर्ति' है। यह मूर्ति पाँचों इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करने योग्य है—

अर्थात् रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये प्रतिनियत इन्द्रियोंके विषय होते हैं और सर्वज्ञदेवके कहे आगमसे प्रत्यक्ष जाने जाते हैं। साथ ही लिङ्गजन्यज्ञान-अनुमानसे भी ज्ञातव्य हैं। मैं 'राजमल्ल' उस पुद्गलद्रव्यका, जो गुणों और पर्यायोंके समूहरूप है, संक्षेप-से कथन करता हूँ।

भावार्थ—जीवद्रव्यका वर्णन करके अब पुद्गलद्रव्यका कथन किया जाता है। पुद्गल वह है जिसमें रूपादि चार गुण पाये जावें। जैसे आम, लकड़ी आदि। ये चार गुण सभी पुद्गलोंमें पाये जाते हैं। जहाँ रस होता है वहाँ अन्य रूपादि तीन गुण भी विद्यमान रहते हैं। इसी तरह जहाँ रूप या गन्ध अथवा स्पर्श है वहाँ रसादि शेष तीन गुण भी रहते हैं। क्योंकि ये एक दूसरेके अविनाभावी हैं—एक दूसरेके साथ अवश्य ही रहते हैं। कोई भी पुद्गल ऐसा नहीं है, जो रूपादि चार गुणवाला न हो। हाँ, यह हो सकता है कि कोई पुद्गल स्पर्शगुणप्रधान हो, जैसे हवा; कोई गन्धगुणप्रधान हो, जैसे कपूर कस्तूरी आदि तथा कोई रसप्रधान हो जैसे आम्रादिके फल और कोई रूपगुणप्रधान हो, जैसे अन्धकार आदि। तथापि वहाँ शेष गुण भी गौणरूपसे अवश्य होते हैं। उनकी विवक्षा न होने अथवा स्थूलबुद्धिके विषय न होनेसे अप्रतीत-जैसे रहते हैं। उपर्युक्त पुद्गलोंमें कोई पुद्गल प्रत्यक्ष-गम्य हैं; जैसे मेज, कुर्सी, मकान आदि। और कोई पुद्गल अनुमानसे गम्य हैं; जैसे परमाणु आदि। तथा कोई पुद्गल आगमसे जानने योग्य हैं; जैसे पुण्य, पाप आदि कर्मपुद्गल। इस तरह यह पुद्गलद्रव्य अणु और स्कन्धादि अनेक भेदरूप है*।

---

* 'अणवः स्कन्धाश्च'—तत्त्वार्थसूत्र' ५-२५

शुद्ध पुद्गलद्रव्यकी अपने ही प्रदेश, गुण और पर्यायसे सिद्धि—

शुद्धः पुद्गलदेश एकपरमाणुः संज्ञया मूर्तिमां-
स्तद्देशाश्रितरूपगंधरससंस्पर्शादिधर्माश्च ये ।
तद्भावाश्च जगाद पुद्गलमिति द्रव्यं हि चैतत्त्रयं
सर्वं शुद्धमभेद-बुद्धित इदं चान्तातिगं संख्यया ॥२०॥

अर्थ—एक प्रदेशी पुद्गलका एक परमाणु शुद्ध पुद्गलद्रव्य है और वह मूर्तिमानसंज्ञक है। उसके आश्रय रहनेवाले जो रूप, गन्ध, रस और स्पर्श आदि धर्म हैं और उनसे होनेवाले जो परिणमन हैं वे सब—तीनों ही (शुद्ध पुद्गलद्रव्य, रूपादि गुण और उनकी पर्यायें) पुद्गल हैं; क्योंकि तीनों ही जगह 'पुद्गल' इस प्रकारकी अभेद-बुद्धि होती है। समस्त शुद्ध पुद्गलद्रव्य संख्याकी अपेक्षा अन्तरहित अर्थात् अनन्त हैं।

भावार्थ—जैसा कि जीवद्रव्यके कथनमें पहले कह आये हैं कि तन्तु और शुक्लता आदि सब ही पट कहे जाते हैं अथवा द्रव्य, गुण और पर्याय ये तीनों ही सत् माने जाते हैं। सत् द्रव्य है, सत् गुण है और सत् पर्याय है इस तरह सत् तीनोंमें समानरूपसे व्याप्त है। यदि केवल द्रव्य ही अथवा गुण या पर्याय ही सत् हो तो शेष असत् हो जायेंगे। अतः जिस प्रकार द्रव्य, गुण और पर्याय ये तीनों ही सत् हैं उसी प्रकार एक प्रदेशी शुद्ध पुद्गल परमाणु, रूपादिगुण और उनकी पर्यायें ये तीनों भी 'पुद्गल' हैं; क्योंकि इन तीनोंमें ही पुद्गलकी अभेदबुद्धि होती है। और ये परमाणुरूप शुद्ध पुद्गलद्रव्य अनन्तानन्तप्रमाण हैं।

अशुद्ध पुद्गलद्रव्यके प्रदेशोंका कथन—

रुक्षस्निग्धगुणैः प्रदेशगणसंपिण्डो गुणानां व्रज-
स्तत्राप्यर्थसमुच्चयोऽखिलमिदं द्रव्यं ह्यशुद्धं च तत् ।
पर्यायार्थिकनीतितो हि गणितात्संख्यातदेशी विधिः
संख्यातीतसमं शमाद्भवति वानन्तप्रदेशी त्रिधा ॥२१॥

अर्थ—रूक्ष और स्निग्ध गुणोंसे होनेवाला प्रदेशसमूहरूप पिण्ड और गुणोंका गण तथा उसमें भी जो अर्थ (पर्याय) समुदाय है वह सब ही पर्यायार्थिकनयसे अशुद्ध पुद्गल द्रव्य हैं। इनमें कोई पुद्गल गणनासे संख्यात प्रदेशी, कोई असंख्यात प्रदेशी और कोई अनन्त प्रदेशी हैं। इस तरह प्रदेश-संख्याकी अपेक्षा पुद्गल-द्रव्य तीन प्रकारका है अथवा पुद्गल द्रव्यमें तीन प्रकारके प्रदेश कहे गये हैं।

भावार्थ—पुद्गलद्रव्यका एक परमाणु शुद्धपुद्गलद्रव्य है और परमाणुके सिवाय द्व्यणुक आदि स्कन्ध अशुद्ध पुद्गलद्रव्य हैं। परमाणु एक प्रदेशी है और द्व्यणुक आदि स्कन्ध संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशी हैं। कोई स्कन्ध तो संख्यात प्रदेशी है, कोई असंख्यात प्रदेशी और कोई अनन्त प्रदेशी। इस प्रकार पुद्गलद्रव्य तीन प्रकारके प्रदेशोंवाला है*।

---

* 'मुत्ते तिविहपदेसा'—द्रव्यसं० २५

'संख्येयाऽसंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ।'—तत्त्वार्थ० ५-१०

'चशब्देनानन्ताश्चेत्यनुकृष्यते । कस्यचित्पुद्गलद्रव्यस्य द्व्यणुकादेः संख्येयाः प्रदेशाः, कस्यचिदसंख्येया, अनन्ताश्च । अनन्तानन्तोपसंख्यानमितिचेन्न । अनन्तसामान्यात् । अनन्तप्रमाणं त्रिविधमुक्तं परीतानन्तं युक्तानन्तमनन्तानन्तं चेति । तत्सर्वमनन्तसामान्येन गृह्यते ॥'

—सर्वार्थसिद्धिः ५-१०

पुद्गल परमाणुमें रूपादिके शाश्वतत्वकी सिद्धि—

शुद्धैकाणुसमाश्रितास्त्रिसमये तत्रैव चाणौ स्थिता-
श्चत्वारः किल रूपगंधरससंस्पर्शा ह्यनन्तांशिनः।
मूर्तद्रव्यगुणाश्च पुद्गलमया भेदप्रभेदैस्तु ते
ये नैके परिणामिनोऽपि नियमाद्ध्रौव्यात्मकाः सर्वदा॥२२॥

अर्थ—रूप, गंध, रस और स्पर्श ये चारों—तीनों कालों (भूत, भविष्यद् और वर्तमान)में एक शुद्ध परमाणुके आश्रित हैं और उसमें सदैव विद्यमान रहते हैं तथा चारों ही अनन्त अङ्गों—अविभागी-प्रतिच्छेदों (शक्तिके वे सबसे छोटे टुकड़े, जिनका दूसरा भाग-हिस्सा न होसके)—वाले हैं। मूर्तद्रव्यके गुण हैं, पुद्गलमय हैं—पुद्गलस्वरूप ही हैं। भेद और प्रभेदों-के द्वारा अनेक हैं। और जो नियमसे परिणामात्मक—उत्पाद-व्ययात्मक—होते हुए भी सदा ध्रौव्यात्मक—नित्यस्वरूप हैं—कभी उनका अभाव नहीं होता।

भावार्थ—रूपादि चारों गुण शुद्ध पुद्गल परमाणुनिष्ठ हैं और वे सदा उसमें रहते हैं। ऐसा कोई भी समय नहीं, जब रूपादि चारों उसमें न हों; क्योंकि गुणोंका कभी अभाव नही होता—वे अन्वयरूपसे हमेशा मौजूद ही रहते हैं। अतः जिन लोगों-की यह मान्यता है कि 'उत्पन्नं द्रव्यं क्षणमगुणं तिष्ठति' अर्थात 'उत्पत्तिके क्षणमें द्रव्य गुणशून्य रहता है' वह खण्डित होजाती है। यथार्थमें गुणोंमें होनेवाले परिणमनोंका ही अभाव होता है। गुणोंका अभाव किसी भी समय नहीं होता। परमाणुओंके समूह-का नाम स्कन्ध है अतः शुद्ध परमाणुमें रूपादिके रहनेका कथन करनेसे स्कन्धमें भी वे कथित होजाते हैं—अर्थात् स्कन्ध भी रूपरसादिके आश्रय हैं यह बात सिद्ध होजाती है।

पुद्गलद्रव्यकी 'अन्वयसंज्ञक' और 'प्रदेशप्रचयज' पर्यायोंका कथन—

पर्यायः परमाणुमात्र इति संशुद्धोऽन्वयाख्यः स हि
रूक्षस्निग्धगुणैः प्रदेशचयजो शुद्धश्च मूर्त्यात्मनः।
द्रव्यस्येति विभक्तनीतिकथनात्स्याद्भेदतः स त्रिधा
सूक्ष्मान्तर्भिदनेकधा भवति सोऽपीहेति भावात्मकः ॥२३॥

अर्थ—परमाणुमात्र (सभी परमाणु) अन्वयसंज्ञक शुद्धपर्याय हैं और रूक्ष तथा स्निग्ध गुणोंके निमित्तसे होनेवाली स्कन्धरूप मूर्तद्रव्यकी जो व्यवहारनयसे शुद्ध पर्याय है वह प्रदेश-प्रचयज पर्याय है। यह प्रदेश-प्रचयज पर्याय तीन प्रकारकी है—(१) संख्यात-प्रदेश-प्रचयज पर्याय, (२) असंख्यातप्रदेश-प्रचयज पर्याय और (३) अनन्तप्रदेश-प्रचयज पर्याय। इनके भी सूक्ष्म अन्तरङ्ग भेद-से अनेक भेद हैं और ये सब 'भाव' रूप पर्यायें मानी गई हैं।

भावार्थ—पुद्गल-द्रव्यकी दो तरहकी पर्यायें कही गई हैं—(१) अन्वयपर्याय और (२) प्रदेशप्रचयज पर्याय। प्रदेशप्रचयज पर्यायके भी दो भेद हैं—(१) शुद्ध प्रदेश-प्रचयज पर्याय और (२) अशुद्ध प्रदेश-प्रचयज पर्याय। सम्पूर्ण परमाणु तो अन्वय-पर्याय हैं और रूक्ष तथा स्निग्ध गुणोंके निमित्तसे होनेवाली स्कन्धरूप पुद्गलकी प्रदेश-प्रचयजन्य प्रदेशप्रचयज पर्याय है और वह व्यवहानयकी दृष्टिसे शुद्ध है। वस्तुतः वह अशुद्ध ही है। इस शुद्ध प्रदेशप्रचयज पर्यायके भी तीन भेद हैं—(१) संख्यात प्रदेशी, (२) असंख्यात प्रदेशी और (३) अनन्तप्रदेशी। तथा आगे-के चौतीसवें पद्यमें शब्द, बन्ध आदि जो पुद्गलकी पर्यायें कही जावेंगी वे अशुद्ध प्रदेशप्रचयज पर्यायें या अशुद्ध पर्यायें हैं।

पुद्गल-द्रव्यकी अशुद्ध पर्यायोंका प्रतिपादन—

शब्दो बन्धः सूक्ष्मस्थूलौ संस्थानभेदसन्तमसम् ।
छायातपप्रकाशाः पुद्गलस्य तुदाऽशुद्ध*पर्यायाः ॥२४॥

अर्थ—शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान (आकार), भेद, अन्धकार, छाया, आतप और प्रकाश ये सब पुद्गल द्रव्यकी अशुद्ध पर्यायें हैं† ।

भावार्थ—भाषावर्गणासे निष्पन्न भाषा और अभाषारूप शब्द पुद्गल द्रव्यकी पर्याय हैं। एक पुद्गलका दूसरे पुद्गलके साथ अन्योन्यानुप्रवेशरूप बन्ध भी पुद्गलकी पर्याय है। सूक्ष्मता, स्थूलता—छोटापन और बड़ापन—ये भी पुद्गलकी पर्यायें हैं और ये दोनों अन्त्य (निरपेक्ष-स्वाभाविक) तथा आपेक्षिक (परनिमित्तक) इन दो भेदरूप हैं। अन्त्य सूक्ष्मता परमाणुमें है। आपेक्षिक सूक्ष्मता बेल, आँवला, बेर आदिमें है। इसी प्रकार अन्त्य स्थूलता जगद्व्यापी महास्कन्धमें है और आपेक्षिक-स्थूलता बेर, आँवला. बेल आदिमें है। संस्थान आकारको कहते हैं। वह दो प्रकारका है—(१) इत्थंभूतलक्षण और (२) अनित्थंभूतलक्षण। जिसका 'ऐसा है इस तरहका है' इस प्रकारसे निरूपण किया जा सके वह सब इत्थंभूतलक्षण संस्थान है। जैसे अमुक वस्तु गोल है, त्रिकोण है आदि। और जिसका उक्त

---

* 'वस्तोरशुद्ध' मुद्रितप्रतौ पाठः ।

† (क) 'शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायाऽऽतपोद्योतवन्तश्च'
—तत्त्वार्थसूत्र ५-२४

(ख) 'सद्दो बंधो सुहुमो थूलो संठाण भेद तम छाया ।
उज्जोदादवसहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया ॥'—द्रव्यसं० १६

प्रकारसे निरूपण न किया जा सके वह सब अनित्थंभूतलक्षण संस्थान है। जैसे मेघादिका संस्थान। टुकड़े आदिको भेद कहा गया है। वह छह प्रकारका है—उत्कर, चूर्ण, खण्ड, चूर्णिका, प्रतर और अणुचटन। लकड़ी आदिको करौंच आदिसे चीरनेपर जो टुकड़े होते हैं वह उत्कर कहलाता है। गेहूँ आदिके चूनको चूर्ण कहते हैं। घड़ा आदिके खप्पर आदि टुकड़ोंको खण्ड कहते हैं। उड़द आदिकी चुनीको चूर्णिका कहते हैं। मेघपटल आदिकी श्रेणी अथवा जुदाईको प्रतर कहते हैं। तपे हुए गोले आदिमेंसे घन आदिकी चोट लगनेपर जो अग्निकण-स्फुलिंग (तिलगा) निकलते हैं वे अणुचटन हैं*। दृष्टिको रोकनेवाले तमको अंधकार कहते हैं। प्रकाशपर आवरण होनेसे छाया होती है†। सूर्य, अग्नि, दीपक आदिके निमित्तसे होनेवाली उष्णताको आतप कहते हैं। चन्द्रमा, मणि, जुगुनू आदिके प्रकाशको उद्योत कहते हैं। ये सब (शब्दादि) पुद्गलद्रव्यकी अशुद्ध पर्यायें हैं।

---

* 'भेदाः षोढा, उत्करचूर्णखण्डचूर्णिकाप्रतराणुचटनविकल्पात्। तत्रोत्करः काष्ठादीनां करपत्रादिभिरुत्करणम्। चूर्णो यवगोधूमादीनां सक्तुकणिकादिः। खण्डो घटादीनां कपालशर्करादिः। चूर्णिका माषमुद्गादीनां। प्रतरोऽभ्रपटलादीनां। अणुचटनं संतप्तायःपिण्डादिषु अयोघनादिभिरभिहन्यमानेषु स्फुलिङ्गनिर्गमः।' —सर्वार्थसि०,-राजवार्तिक ५-२४

† 'तमो दृष्टिप्रतिबंधकारणं' दृष्टेः प्रतिबंधकं वस्तु तम इति व्यपदिश्यते यदपहरन् प्रदीपः प्रकाशको भवति। छाया प्रकाशावरणनिमित्ता। प्रकाशावरणं शरीरादि यस्या निमित्तं भवति सा छाया।'

—सर्वार्थसिद्धि,-राजवार्तिक ५-२४

पुद्गलद्रव्यके बीस गुण और शुद्ध गुण-पर्यायका कथन—

शुद्धेऽणौ खलु रूपगन्धरससंस्पर्शाश्च ये निश्चिता-
स्तेषां विंशतिधा भिदो हि हरितात्पीते यथाम्रादिवत्।
तद्भेदात्परिणामलक्षणबलाद्भेदान्तरे सत्यतो
धर्माणां परिणाम एष गुणपर्यायः स शुद्धः किल ॥२५॥

अर्थ—पुद्गलद्रव्यके शुद्ध परमाणुमें, नियमसे जो रूप, गंध, रस और स्पर्श ये चार गुण होते हैं, उनके बीस भेद हैं। रूप पांच (कृष्ण, पीत, नील, रक्त और श्वेत), रस पांच (तिक्त, आम्ल, कषाय, कटु और मधुर), गन्ध दो (सुगन्ध और दुर्गन्ध) स्पर्श आठ (मृदु, कठिन, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष) इस प्रकार ये पुद्गलके कुल बीस गुण हैं। हरेसे पीले हुये आम आदिकी तरह इन बीस गुणोंका—परिणामलक्षण एक भेदसे (अवस्थासे) भेदान्तर—अवस्थान्तर—दूसरी अवस्थाके होनेपर जो यह भेदसे भेदान्तरलक्षण परिणमन होता है वह निश्चयसे शुद्ध गुणपर्यायरूप है—अर्थात् वह शुद्ध गुणपर्याय संज्ञावाला है।

भावार्थ—पुद्गलके दो भेद हैं-(१) परमाणु और (२) स्कन्ध। उक्त रूपादि चारों गुण इन दोनों ही प्रकारके पुद्गलोंमें हैं। रूपादि चारगुणोंके अवान्तर बीस भेदोंमेंसे परमाणुमें केवल पांच गुण (एकरूप, एक रस, एक गन्ध और दो स्पर्श) होते हैं और स्कन्धमें यथा सम्भव सभी गुण होते हैं। यह विशेष है कि हर एक स्कन्धमें वे न्यूनाधिकरूपसे ही पाये जाते हैं। हरे रूपसे पीलारूप होना, मधुर रससे अन्य प्रकारका रस होना आदि उक्त बीस गुणोंकी गुणपर्यायें हैं। यह गुणपर्याय शुद्ध परमाणुमें तो शुद्ध ही होती हैं और स्कन्धमें अशुद्ध होती हैं।

* 'अणवः स्कन्धाश्च'—तत्त्वार्थसूत्र ५-२५।

शुद्ध पुद्गलपरमाणुमें पाँच ही गुणोंकी संभावना और उन गुणोंकी शक्तियोंमें 'धर्मपर्याय' का कथन—

तत्राणौ परमे स्थिताश्च रसरूपस्पर्शगन्धात्मकाः
एकैकद्वितयैकभेदवपुषः पर्यायरूपाश्च ये ।
पंचैवेति सदा भवन्ति नियमोऽनन्ताश्च तच्छक्तयः
पर्यायः क्षतिवृद्धिरूप इति तासां धर्मसंज्ञोऽमलः ॥२६॥

अर्थ—परमाणुमें सामान्यरूपसे स्थित रूप, रस, स्पर्श और गंध इन चार गुणोंमेंसे एक रूप, एक रस, दो स्पर्श और एक गंध इस तरह पांच ही गुण नियमसे सदा होते हैं। और जो अन्वय पर्यायरूप हैं। इन गुणोंकी भी अविभागी प्रतिच्छेद-रूप अनन्तशक्तियाँ हैं। इन शक्तियोंमें हानि तथा वृद्धिरूप (आगम-प्रमाणसे सिद्ध अगुरुलघुगुणोंके निमित्तसे होनेवाली षड्स्थानपतित हानि और वृद्धिस्वरूप) 'धर्मसंज्ञक' शुद्ध पर्यायें होती हैं।

भावार्थ—एक शुद्ध पुद्गलपरमाणुमें, जैसा कि पहिले पूर्व पद्य-की व्याख्यामें कह आये हैं, उक्त बीस गुणोंमेंसे पांच ही गुण होते हैं—पांच रूपोंमेंसे कोई एक रूप, पाँच रसोंमेंसे कोई एक रस आठ स्पर्शोंमेंसे दो स्पर्श तथा दो गंधोंमेंसे कोई एक गंध। शेषके कोई गुण नहीं होते; क्योंकि परमाणु अवयव रहित है इसलिये उसमें अनेकरस, अनेकरूप और अनेक गंध संभव नहीं हैं। किन्तु पपीता, मयूर, अनुलेपन आदि सावयव स्कन्धोंमें ही वे देखे जाते हैं। परमाणुमें जो दो स्पर्श होते हैं वे हैं—शीत-रूक्ष अथवा शीत-स्निग्ध, उष्ण-रूक्ष या उष्ण-स्निग्ध। क्योंकि इन दो दो स्पर्शोंमें परस्पर कोई विरोध नहीं है। शेषके

हलका, भारी, कोमल, कठोर ये चार स्पर्श परमाणुओंमें नहीं होते, —वे स्कन्धोंमें ही होते हैं*। परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे स्वयं ही आदि है, स्वयं ही मध्य है और स्वयं ही अन्तरूप है तथा इन्द्रियोंसे अग्राह्य है और अविभागी है—उसका कोई दूसरा भाग नहीं होसकता†। कारणरूप है, अन्त्य है, सूक्ष्म है और नित्य है‡। इन परमाणुगत उपर्युक्त रूपादिगुणोंमें रहनेवाली अनन्तशक्तियोंमें धर्मसंज्ञक शुद्धपर्यायें होती हैं।

स्कन्धोंके रूपादिकोंमें पौद्गलिकत्वकी सिद्धि और उनकी अशुद्ध पर्याय—

स्कन्धेषु द्व्यणुकादिषु प्रगतसंशुद्धत्वभावेषु च
ये धर्माः किल रूपगंधरससंस्पर्शाश्च तत्तन्मयाः।

* (क) 'एयरसवण्णगंधं दो फासं सद्दकारणमसद्दं।
खंधंतरिदं दव्वं परमाणुं तं वियाणेहि ॥'—पंचास्ति० ८१

(ख) 'एकरसवर्णगंधोऽणुः निरवयवत्वात् ॥१२॥ एकरसः एकवर्णः एकगन्धश्च परमाणुर्वेदितव्यः। कुतः? निरवयवत्वात्। सावयवानां हि मातुलिङ्गादीनां अनेकरसत्वं दृश्यते अनेकवर्णत्वं च मयूरादीनां, अनेकगन्धत्वं चानुलेपनादीनां। निरवयवश्चाणुरत एकरसवर्णगंधः। द्विस्पर्शो विरोधाभावात्। कौ पुनः द्वौ स्पर्शौ? शीतोष्णस्पर्शयोरन्यतरः, स्निग्धरूक्षयोरन्यतरश्च। एकप्रदेशत्वात् विरोधिनोः युगपदनवस्थानं। गुरुलघुमृदुकठिनस्पर्शानां परमाणुष्वभावः स्कन्धविषयत्वात्।'—राजवार्तिक पृ० २३६

† 'अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेव इंदिये गेज्झं।
जं दव्वं अविभागी तं परमाणुं वियाणेहि ॥' उद्धृत राजवा.पृ.२३५

‡ 'कारणमेव तदन्त्यः सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः।
एकरसगंधवर्णो द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च ॥' उद्धृत राजवा० पृ०२३६

तेषां च स्वभिदो भिदेतरतनुर्भावश्च स्कन्धयो
ह्यर्थस्तत्क्षतिवृद्धिरूप इति चाशुद्धश्च धर्मात्मकः ॥२७॥

अर्थ—शुद्धत्वभावसे रहित—अशुद्ध द्वयणुक आदि स्कन्धोंमें जो रूपादिक गुण हैं, वे पुद्गलमय हैं—पुद्गलस्वरूप ही हैं तथा इनमें भी स्वभेद—अपने भेदोंकी अपेक्षा अनेक प्रकारका (भिन्ना-भिन्न) परिणमन और अविभागप्रतिच्छेदोंके समूहरूप शक्तियाँ होती है। इनमें हानिवृद्धिरूप 'धर्मसंज्ञक' अशुद्ध पर्यायें होती हैं।

भावार्थ—शुद्ध पुद्गलपरमाणुकी तरह अशुद्ध पुद्गल-स्कन्धमें भी रूप, रस, गध और स्पर्श ये चार गुण अथवा उत्तरभेदोंकी अपेक्षा यथासंभव बीसगुण पाये जाते हैं। और अनेक प्रकारका परिणमन भी होता है। इन गुणोंमें जो शक्तियाँ रहती हैं उनमें 'धर्म' नामकी अशुद्ध पर्यायें होती हैं। विशेष यह कि परमाणु-गतरूपादिनिष्ठ शक्तियोंमें तो धर्मनामकी शुद्ध ही पर्यायें होती हैं और स्कन्धगतरूपादिनिष्ठ शक्तियोंमें अशुद्ध धर्मपर्यायें हुआ करती हैं।

इस प्रकार पुद्गल द्रव्यका लक्षण, उसके भेद, गुण और पर्यायोंका संक्षेपमें वर्णन किया।

(३, ४) धर्म-अधर्मद्रव्य-निरूपण

धर्म और अधर्मद्रव्यके कथनकी प्रतिज्ञा—

लोकाकाशमितप्रदेशवपुषौ धर्मात्मकौ संस्थितौ
नित्यौ दे[illegible]गणप्रकंपरहितौ सिद्धौ स्वतन्त्रा[illegible] तौ।
धर्माधर्मसमाह्वयाविति तथा शुद्धौ त्रिकाले पृथक्
स्यातां द्वौ गुणिनावथ प्रकथयामि द्रव्यधर्मास्तयोः॥२८॥

अर्थ—धर्म और अधर्म ये दो द्रव्य लोकाकाशके बराबर असंख्यात प्रदेशी हैं, धर्मात्मक हैं—धर्मपर्यायसे युक्त हैं, संस्थित हैं—अपने स्वरूपसे कभी च्युत नहीं होते हैं, नित्य हैं—ध्रुव हैं, प्रदेशसमूहमें कम्परहित हैं—निष्क्रिय हैं, दोनों ही स्वतन्त्ररूपसे सिद्ध हैं, तीनों कालोंमें शुद्ध हैं—विकार रहित हैं, पृथक् हैं—परस्पर और अन्यद्रव्योंसे भिन्न हैं, दोनों ही गुणीरूप हैं। मैं 'राजमल्ल' उन दोनोंके द्रव्यधर्मों—द्रव्यस्वरूपोंका वर्णन करता हूँ।

भावार्थ—अजीव द्रव्यके पाँच भेद हैं—(१) पुद्गल, (२) धर्म, (३) अधर्म, (४) आकाश, और (५) काल। इनमें पुद्गलद्रव्यका वर्णन इसके पहले ही हो चुका है। अब धर्म और अधर्मका कथन किया जाता है। ये दोनों द्रव्य समस्त लोकाकाशमें तिलोंमें तैलकी तरह सर्वत्र व्याप्त हैं। नित्य, अवस्थित, अरूपी और निष्क्रिय हैं। अर्थपर्याय (धर्मपर्याय) रूप परिणमनसे युक्त हैं। प्रसिद्ध जो पुण्य और पाप रूप धर्म अधर्म हैं उनसे ये धर्म अधर्म पृथक् (जुदे) हैं, द्रव्यरूप हैं और जीव तथा पुद्गलोंके चलने और ठहरनेमें क्रमशः उदासीनरूपसे—अप्रेरकरूपसे सहायक होते हैं*।

धर्म और अधर्म द्रव्योंकी प्रदेश, गुण और पर्यायोंसे सिद्धि—

शुद्धा देश-गुणाश्च पर्ययगणा एतद्धि सर्वं समम्
द्रव्यं स्यान्नियमादमूर्तममलं धर्मं ह्यधर्मं च तत्।

---

* 'जादो अलोगलोगो जेसिं सब्भावदो य गमणठिदी।
दो वि य मया विभत्ता अविभत्ता लोयमेत्ता य ॥—पंचा० ८७
विज्जदि जेसिं गमणं ठाणं पुण तेसिमेव संभवदि।
ते सगपरिणामेहिं दु गमणं ठाणं च कुव्वंति ॥'—पंचा० ८९

तद्देशाः किल लोकमात्रगणिताः पिंडीबभूवुः स्वयं
पर्यायो विमलः स एष गुणिनोऽधर्मस्य धर्मस्य च ॥२६॥

अर्थ—धर्म और अधर्म द्रव्योंके प्रदेश, गुण तथा शुद्ध पर्याय-समूह ये सब समानरूपसे धर्म और अधर्म द्रव्य हैं और दोनों ही अमूर्तिक तथा शुद्ध हैं—विभाव परिणमनसे रहित हैं। प्रत्येकके प्रदेश लोकप्रमाण हैं और पिण्डरूप हैं। यही पिण्डरूप प्रदेश धर्म और अधर्म द्रव्यकी शुद्धपर्यायें हैं।

भावार्थ—धर्म और अधर्म द्रव्यमें भाववती शक्ति विद्यमान है। क्रियावती शक्ति नहीं। वह तो केवल जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योंमें ही कही गई*। अतः धर्म और अधर्म द्रव्यमें जो परिणमन होता है वह शुद्ध अर्थपर्यायरूप ही होता है। फलितार्थ यह कि जीव और पुद्गलोंमें क्रियावती शक्तिके निमित्तसे अशुद्ध परिणमन भी होता है पर धर्म, अधर्म द्रव्यमें उसके न होनेसे अशुद्ध परिणमन नहीं होता। केवल शुद्ध ही होता है। इसीलिये इन दोनों द्रव्योंमें पिण्डरूप प्रदेश ही उनकी शुद्ध पर्यायें कही गई हैं। अथवा† अगुरुलघुगुणोंके निमित्तसे होनेवाला उत्पाद और व्यय धर्म, अधर्म द्रव्यकी शुद्ध पर्यायें हैं।

* 'भाववन्तौ क्रियावन्तौ द्वावेतौ जीवपुद्गलौ।
तौ च शेषचतुष्कं च षडेते भावसंस्कृता ॥—पंचाध्या० २-२५
तत्र क्रिया प्रदेशानां परिस्पन्दश्चलात्मकः।
भावस्तत्परिणामोऽस्ति धारावाह्येकवस्तुनि ॥' पंचाध्या० २-२६

† 'अगुरुलघुगेहिं सया तेहिं अणंतेहिं परिणदं णिच्चं।
गदिकिरियाजुत्ताणं कारणभूदं सयमकज्जं ॥'—पंचास्ति० ८४

धर्मद्रव्यका स्वरूप—

धर्मद्रव्यगुणो हि पुद्गलचितोश्चिद्द्रव्ययोरात्मभा (?)
गच्छन्त्यास्तोर्निमित्तगतिहेतुत्वं तयोरेव यत् ।
मत्स्यानां हि जलादिवद्भवति चोदास्येन सर्वत्र च
प्रत्येकं सकृदेव शश्वदनयोर्गत्यात्मशक्तावपि ॥३०॥

अर्थ—पुद्गल और चेतनकी गतिरूप अर्थक्रियामें सहायक होना धर्मद्रव्यका गुण है—उपकार है। जो गमन करते हुये जीव और पुद्गलोंके ही गमनमें निमित्तकारणतारूप है*। यद्यपि जीव और पुद्गल प्रत्येक निरन्तर स्वयं गतिशक्तिसे युक्त हैं तथापि इनके(जीव और पुद्गलके) गमनमें यह द्रव्य उसी प्रकार उदासीन-रूपसे कारण होता है, जिसप्रकार कि जल मछलीके चलनेमें उदासीन कारण होता है—अर्थात् मछली चलने लगती है तो जल सहायक होजाता है। अथवा यों कहिये कि मछलीमें चलनेकी शक्ति होते हुये भी वह जलकी सहायतासे ही चलती है और उसके बिना नहीं चल सकती। उसी प्रकार जीव और पुद्गलमें स्वयं गमन करनेकी सामर्थ्य होते हुये भी धर्मद्रव्यकी सहायतासे ही दोनों गमन करते हैं अगर वह न हो तो इनका गमन नहीं हो सकता। यह धर्मद्रव्य उन्हें जबरदस्तीसे नहीं चलाता है, किन्तु

---

* 'गइपरिणयाण धम्मो पुग्गलजीवाण गमणसहयारी ।
तोयं जह मच्छाणं अच्छंता णेव सो णेई ॥' —द्रव्यसं० १७
'उदयं जह मच्छाणं गमणाणुग्गहयरं हवदि लोए ।
तह जीवपुग्गलाणं धम्मं दव्वं वियाणेहि ॥' —पंचास्ति० ८५
'ण य गच्छदि धम्मत्थी गमणं ण करेदि अण्णदवियस्स ।
हवदि गदी सप्पसरो जीवाणं पुग्गलाणं च ॥' —पंचास्ति० ८८

अप्रेरक—उदासीनरूपसे उनके चलनेमें सहायता पहुंचाता है। बुड्ढेको लाठी, रास्तागीरोंको मार्ग, रेलगाड़ीको रेलकी पटरी आदि धर्मद्रव्यके और भी दृष्टान्त जानना चाहिए।

अधर्मद्रव्यका स्वरूप—

तिष्ठद्भाववतोश्च पुद्गलचितोरौदास्यभावेन य-
द्धेतुत्वं पथिकस्य मार्गमटतश्छाया यथाऽवस्थितेः।
धर्मोऽधर्मसमाह्वयस्य गतमोहात्मप्रदिष्टः सदा
शुद्धोऽयं शश्वद्द्वयोः स्थित्यात्मशक्तावपि ॥३१॥

अर्थ—ठहरते हुये जीव और पुद्गलोंके ठहरनेमें जो उदासीनभावसे हेतुता है—सहायककारणता है वह अधर्मद्रव्यका धर्म है*—उपकार है, ऐसा गतमोह—जिनेन्द्र भगवान्ने कहा है। जैसे मार्ग चलते हुये पथिक—मुसाफिरके ठहरनेमें वृक्षकी छाया उदासीन भावसे—अप्रेरकरूपसे कारण होती है। यद्यपि गतिशक्तिकी तरह जीव और पुद्गलोंमें स्थितिशक्ति—ठहरनेकी सामर्थ्य भी एक साथ निरन्तर विद्यमान रहती है तथापि उनके ठहरनेमें सहकारी कारण अधर्मद्रव्य ही है।

भावार्थ—जीव और पुद्गलोंके ठहरनेमें अधर्मद्रव्य एक उदासीन—अप्रेरक कारण है। जब वे ठहरने लगते हैं तो यह द्रव्य उनके ठहरनेमें सहायक होता है। पथिकोंको ठहरनेमें

---

* 'ठाणजुदाण अधम्मो पुग्गलजीवाण ठाणसहयारी।
छाया जह पहियाणं गच्छंता णेव सो धरई ॥' —द्रव्यसं० १८
'जह हवदि धम्मदव्वं तह तं जाणेह दव्वमधम्मक्खं।
ठिदिकिरियाजुत्ताणं कारणभूदं तु पुढवीव ॥' —पंचास्ति० ८६

जैसे छाया सहायक होती है। छाया उन्हें जबरदस्तीसे नहीं ठहराती है वे ठहरने लगते हैं तो अप्रेरकरूपसे सहकारी होजाती है। अतः पृथिवी आदि सबकी स्थितिमें साधारण सहायक रूपसे इस द्रव्यका स्वीकार करना आवश्यक है। यदि यह द्रव्य न हो तो गतिशील जीव-पुद्गलोंकी स्थिति नहीं बन सकेगी। यद्यपि गति-की तरह स्थिति भी जीव और पुद्गलोंका ही परिणाम व कार्य है तथापि वे स्थितिके उपादान कारण हैं, निमित्तकारण रूपसे जो कार्यकी उत्पत्तिमें अवश्य अपेक्षित है अधर्म द्रव्यका मानना आवश्यक है। जो धर्मद्रव्यकी तरह लोक अलोककी मर्यादाको भी बांधता है।

धर्म और अधर्म द्रव्योंमें धर्मपर्यायका कथन—

धर्माधर्माख्ययोर्वै परिणमनमदस्तत्त्वयोः स्वात्मनैव
धर्मांशैश्च स्वकीयाऽगुरुलघुगुणतः स्वात्मधर्मेषु शश्वत् ।
सिद्धात्सर्वज्ञवाचः प्रतिसमयमयं पर्ययः स्याद्द्वयोश्च
शुद्धो धर्मात्मसंज्ञः परिणतिमयतोऽनादिवस्तुस्वभावात्॥३२॥

अर्थ—धर्म और अधर्म इन दोनों द्रव्योंका परिणमन अपने ही रूप होता है—अथवा यों कहिये कि इन दोनों द्रव्योंमें सर्वज्ञ-देवके कहे आगमसे सिद्ध अपने अगुरुलघुगुणों*से अपने ही धर्मांशों—स्वभावपर्यायोंके द्वारा अपने ही आत्मधर्मों—स्व-भावपर्यायोंमें सदा—प्रतिसमय परिणमन होता रहता है और यह परिणमन परिणमनशील अनादि वस्तुका निज स्वभाव होनेसे शुद्ध है तथा धर्मपर्याय संज्ञक है—अर्थात् उस परिणमनकी शुद्ध 'धर्म' पर्याय संज्ञा है।

* 'अगुरुलघुगेहिं सया तेहिं अणंतेहिं परिणदं णिच्चं'—पंचास्ति० ८४

भावार्थ—धर्म और अधर्म द्रव्योंमें अगुरुलघुगुणोंके निमित्तसे प्रतिसमय उत्पाद और व्यय होता रहता है। यह उत्पाद और व्यय अर्थपर्यायरूप है। और अर्थपर्यायको ही 'धर्म-पर्याय' कहते हैं।

(५) आकाश-द्रव्य-निरूपण

आकाशद्रव्यका वर्णन—

गगनतत्त्वमनन्तमनादिमत्सकलतत्त्वनिवासदमात्मगम्।
द्विविधमाह कथंचिदखंडितं किल तदेकमपीह समन्वयात्॥३३

अर्थ—'आकाश' तत्व अनन्त है—विनाश रहित है, अनादि है—उत्पत्तशून्य है—सदा विद्यमान स्वरूप है, सम्पूर्ण तत्त्वों—द्रव्योंको आश्रय देनेवाला है*, स्वयं अपना आधार है—उसका कोई आधार नहीं है†। अन्वयरूपसे-अन्वयाख्य (तिर्यक्)

---

* 'सव्वेसिं जीवाणं सेसाणं तह य पुग्गलाणं च।
जं देदि विवरमखिलं तं लोए हवदि आयासं॥'—पंचास्ति० ९०

† 'आकाशस्य नास्त्यन्य आधारः। स्वप्रतिष्ठमाकाशम्। यद्याकाशं स्वप्रतिष्ठं, धर्मादीन्यपि स्वप्रतिष्ठान्येव। अथ धर्मादीनामन्य आधारः कल्प्यते, आकाशस्याप्यन्य आधारः कल्प्यः। तथा सत्यनवस्थाप्रसङ्ग इति चेन्नैष दोषः। नाकाशादन्यदधिकपरिमाणं द्रव्यमस्ति। यत्राकाशं स्थित-मित्युच्यते। सर्वतोऽनन्तं हि तत्'।—सर्वार्थसि० ५-१२

'आकाशस्यापि अन्याधारकल्पनेति चेन्न स्वप्रतिष्ठत्वात्। स्यान्मतं यथा धर्मादीनां लोकाकाशमाधारस्तथाऽऽकाशस्याप्यन्येनाधारेण भवितव्य-मिति तन्न, किं कारणं? स्वप्रतिष्ठत्वात् स्वस्मिन् प्रतिष्ठाऽस्येति स्वप्रतिष्ठमा

सामान्यकी दृष्टिसे यद्यपि वह एक और अखंड द्रव्य है तथापि कथंचित्—किसी अपेक्षासे—जीवादि पांच द्रव्योंके पाये जाने और न पाये जानेकी अपेक्षासे दो प्रकारका कहा गया है—(१) लोकाकाश और (२) अलोकाकाश।

भावार्थ—आकाश द्रव्य वह है जो सम्पूर्ण द्रव्योंको अवकाश दान देता है। यह द्रव्य अनन्त और अनादि है। एक और अखंड है। उपचारसे उसके दो भेद कहे गये हैं—जितने आकाशक्षेत्रमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल ये पांच द्रव्य पाये जाते हैं उतने आकाशक्षेत्रका नाम लोकाकाश है और उसके बाहर सब आकाश अलोकाकाश जानना चाहिये। यही आगेके पद्यमें स्पष्ट किया गया है।

लोकाकाश और अलोकाकाशका स्वरूप—

यावत्स्वा[illegible]शदेशेषु सकलचिदचित्तत्त्वसत्ताऽस्ति नित्या
तावन्तो लोकसंज्ञा जिनवरगदितास्तद्बहिर्ये प्रदेशाः।
सर्वे तेऽलोकसंज्ञा गगनमभिदपि स्वात्मदेशेषु शश्व-
द्भेदार्थाच्चोपलम्भाद्द्विविधमपि च तन्नैव बाध्येत हेतोः॥३४॥

अर्थ—जितने आकाश-प्रदेशोंमें सम्पूर्ण चेतन, अचेतन तत्त्वों—द्रव्योंकी सत्ता है—अस्तित्व है, उतने आकाश-प्रदेशोंकी जिनेन्द्रभगवान्ने 'लोक'—'लोकाकाश' संज्ञा कही है और उसके बाहर जितने आकाश-प्रदेश हैं, उन सबको 'अलोक'—'अलोका-

काशं। स्वात्मैवास्याधेय आधारश्चेत्यर्थः। कुतः? ततोऽधिकप्रमाणद्रव्यान्तराभावात्। न हि आकाशादधिकप्रमाणं द्रव्यान्तरमस्ति यत्राकाशमाधेयं स्यात्। ततः सर्वतो विरहितान्तस्याधिकरणान्तरस्याभावात् स्वप्रतिष्ठमवसेयम्।'—राजवार्तिक पृ० २०५

काश' संज्ञा है†। इस तरह आकाश तत्त्व एक अखण्ड होता हुआ भी अपने प्रदेशोंमें सर्वदा भेद उपलब्ध होनेसे दो भेदरूप भी है और ऐसा माननेमें किसी हेतुसे—युक्ति-प्रमाणसे कोई बाधा नहीं आती।

भावार्थ—यद्यपि आकाश एक अखंड द्रव्य है तथापि उसके अपने प्रदेशोंमें आधेय भूत अर्थों (द्रव्यों) के पाये जाने और न पाये जानेरूप भेदके उपलब्ध होनेसे अनेक भी है—अर्थात उसके दो भी भेद हैं।

आकाशद्रव्यकी अपने प्रदेशों, गुणों, पर्यायोंसे सिद्धि और उसके कार्य तथा धर्मपर्यायका कथन—

अन्तातीतप्रदेशा गगनगुणिन इत्याश्रितास्तत्र धर्मा-
स्तत्पर्यायाश्च तत्त्वं गगनमिति सदाकाशधर्म विशुद्धम्।
द्रव्याणां चावगाहं वितरति सकृदेतद्धि यत्तु स्वभावा-
द्धर्मांशैः स्वात्मधर्मात्प्रतिपरिणमनं धर्मपर्यायसंज्ञम् ॥ ३५ ॥

अर्थ—आकाशद्रव्यके अनन्त प्रदेश, गुण और उनसे होने-वाली पर्यायें ये सब ही 'आकाश' हैं। सम्पूर्ण द्रव्योंको एक साथ हमेशा अवकाश दान देना आकाशका धर्म है—उपकार है और यह उसकी विशुद्धपर्याय है। किन्तु स्वभावसे जो अपने आत्म-धर्मसे धर्मांशों—स्वभावपर्यायोंमें प्रतिसमय परिणमन होता है वह उस (आकाशद्रव्य)की धर्मपर्याय है।

---

†(क) 'जीवा पुग्गलकाया धम्माधम्मा य लोगदोऽणण्णा।'—पंचास्ति ६१

(ख) 'को लोकः? धर्माधर्मादीनि द्रव्याणि यत्र लोक्यन्ते स लोक इति। अधिकरणसाधने घञ्। आकाशं द्विधा विभक्तं। लोकाकाशमलोकाकाशं चेति। लोक उक्तः। स यत्र तल्लोकाकाशम्। ततो बहिः सर्वतोऽनन्त-मलोकाशम्।'—सर्वार्थसि० ५-१२

भावार्थ—आकाश अनन्तप्रदेशी और अखण्डद्रव्य है। जीवादि पाँच द्रव्योंका आश्रय है। इन द्रव्योंको अवकाश देना उसकी विशुद्ध पर्याय है और अगुरुलघु गुणोंके निमित्तसे जो परिणमन होता है वह उसकी धर्मसंज्ञक पर्याय है।

'आकाश' द्रव्यकी द्रव्यपर्यायका कथन—

गगनानन्तांशानां पिण्डीभावः स्वभावतोऽभेद्यः।
पर्यायो द्रव्यात्मा शुद्धो नभसः समाख्यातः ॥ ३६ ॥

अर्थ—अनन्त आकाश-प्रदेशोंका पिंड, जो स्वभावसे अभेद्य है—जिसके प्रदेश अलग अलग नहीं हो सकते हैं, आकाशद्रव्य-की शुद्ध द्रव्यपर्याय है।

भावार्थ—इससे पूर्व पद्यमें आकाश-द्रव्यकी धर्मपर्याय कही गई है और इस पद्यमें उसकी शुद्ध द्रव्यपर्याय बताई गई है। इस तरह आकाशद्रव्यका वर्णन हुआ।

(६) काल-द्रव्यका निरूपण

कालद्रव्यका स्वरूप और उसके भेद—

कालो* द्रव्यं प्रमाणाद्भवति स समयाणुः किल द्रव्यरूपो
लोकैकैकप्रदेशस्थित इति नियमात्सोऽपि चैकैकमात्रः।
संख्यातीताश्च सर्वे पृथगिति गणिता निश्चयं कालतत्त्वं
भाक्तः कालो हि यः स्यात्समय-घटिका-यामरादिः प्रसिद्धः॥३७॥

अर्थ—'काल' एक स्वतन्त्र द्रव्य है और वह प्रमाणसे सिद्ध है तथा द्रव्यरूप कालाणुओंके नामसे प्रसिद्ध है। और यह द्रव्य-

* 'प्रोक्तं' मुद्रित प्रतिमें पाठ।

रूप कालाणु लोकाकाशके एक एक प्रदेशपर-स्थित है इसलिये वह भी नियमसे एक एक ही है। इस तरह वे सब कालाणु असंख्यात हैं—लोकाकाशके प्रदेशोंको असंख्यात होनेसे उनपर स्थित कालाणु भी असंख्यात प्रमाण हैं और ये सब एक एक पृथक् द्रव्य हैं। इन सब कालाणुओंको ही निश्चयकाल कहते हैं। तथा प्रसिद्ध जो समय, घड़ी, दिन आदि है उसे भाक्त—व्यवहारकाल कहा गया है।

भावार्थ—जो द्रव्योंके परिणमन करानेमें बाह्य निमित्तकारण है वह काल-द्रव्य है। और यह एक स्वतन्त्र ही द्रव्य है। क्रिया या अन्य द्रव्यरूप नहीं है। वह दो प्रकारका है—(१) निश्चय-काल (२) व्यवहारकाल। लोकाकाशप्रमाण कालाणु निश्चय-काल द्रव्य हैं। ये कालाणु लोकाकाशके एक एक प्रदेशपर अव-स्थित हैं और रत्नोंकी राशिकी तरह असंबद्ध (तादात्म्य सम्बन्धसे रहित) और पृथक् पृथक् हैं—पिण्डरूप नहीं हैं। यहाँ निश्चयकाल-द्रव्यके सम्बन्धमें उपयोगी शंका-समाधान दिया जाता है :—

शंका—कालाणुरूप ही असंख्यात कालद्रव्य क्यों है ? आकाशके समान वैशेषिकादिदर्शनोंकी तरह सर्वव्यापी एक अखण्ड कालद्रव्य क्यों नहीं माना जाता ?

समाधान—नाना क्षेत्रोंमें नाना तरहका परिणमन और ऋतुओंका परिवर्तन इस बातको सिद्ध करता है कि सब जगह काल एक नहीं है—भिन्न भिन्न ही है। अतः कालद्रव्य आकाश-की तरह सर्वव्यापी, अखण्ड, एक द्रव्य न होकर खण्ड, अनेक द्रव्यरूप है।

शंका—उपर्युक्त समाधानसे तो इतनी ही बात सिद्ध होती है कि कालद्रव्य एक नहीं है—अनेक भेदवाला है—बहुसंख्यक है। 'वह असंख्यात है' इस बातकी पुष्टि उससे नहीं होती ?

समाधान—लोकाकाशके प्रदेश असंख्यात हैं और इन्हीं असंख्यात प्रदेशोंपर समस्त द्रव्योंकी स्थिति है अतः इन समस्त द्रव्योंको परिणमन करानेवाला कालद्रव्य भी लोकाकाश-प्रमाण है—लोकाकाशके एक एक प्रदेशपर अवस्थित कालाणु असंख्यातमात्र हैं, इससे न तो कम हैं और न अधिक। कम यदि माने जायेंगे तो जितने लोकाकाश-प्रदेशोंपर जीवादि द्रव्य होंगे उन्हींके परिणमनमें वे कालाणु कारण हो सकेंगे। बाकी लोकाकाशप्रदेशोंपर कालाणुओंके न होनेसे वहाँ पर स्थित जीवादिद्रव्योंके परिणमनमें वे कारण नहीं हो सकेंगे। ऐसी हालतमें—परिणमनके बिना उन जीवादि द्रव्योंका अस्तित्व भी सिद्ध नहीं हो सकेगा। अतः कालाणु असंख्यातसे कम नहीं हैं। और अधिक इसलिये नहीं हैं कि असंख्यातप्रदेश-मात्र लोकाकाशमें ही अनन्त जीवों, अनन्त पुद्गलों तथा असंख्यातप्रदेशी धर्म, अधर्म द्रव्योंकी स्थिति है। और असंख्यात लोकाकाश प्रदेशोंपर अवस्थित असंख्यात कालाणु ही उन सब द्रव्योंके परिणमन करानेमें समर्थ हैं। इसलिये अधिक माननेकी आवश्यकता ही नहीं रहती। अतः कालाणुरूप कालद्रव्य न संख्यात है और न अनन्त। किन्तु असंख्यातप्रमाण ही है।

शंका—यदि कालद्रव्य लोकाकाशप्रमाण ही है—अनन्त नहीं है तो अनन्त अलोकाकाशमें उसके न होनेसे वहाँ परिणमन नहीं हो सकेगा और ऐसी हालतमें—परिणमन बिना अलोकाकाशके अभावका प्रसंग आवेगा ?

समाधान—आकाश-द्रव्य एक अखण्ड द्रव्य है और अखण्ड द्रव्यका यह स्वभाव होता है कि उसके एक प्रदेशमें परिणमन होनेपर सर्वत्र परिणमन हो जाता है। मोटेरूपमें उदाहरण लें। जैसे एक खम्भेसे दूसरे खम्भे तक बंधे तारके एक भागमें

क्रिया होनेपर दूसरे भागमें भी क्रिया (कंप) होती है। उसी प्रकार लोकाकाशके किसी एक प्रदेशपर स्थित कालाणुके द्वारा लोकाकाशके उस प्रदेशमें परिणमन होनेपर समस्त आकाशके प्रदेशोंमें भी परिणमन हो जाता है; क्योंकि वह अखण्ड द्रव्य है।

शंका—यदि ऐसा है, तो एक कालाणुसे ही सब द्रव्योंमें परिणमन हो जायगा? फिर उन्हें असंख्यात माननेकी भी क्या आवश्यकता?

समाधान—नहीं, अगर सभी द्रव्य अखण्ड ही होते—खण्ड-द्रव्य न होते तो एक कालाणुके द्वारा ही सब द्रव्योंका परिणमन हो जाता। पर यह बात नहीं है। धर्म, अधर्म और आकाश इन अखण्ड द्रव्योंके अलावा जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य खण्ड द्रव्य हैं। अतः इन खण्ड द्रव्योंका परिणमन करानेके लिये असंख्यात कालाणुओंका मानना परमआवश्यक है।

शंका—यदि खण्ड द्रव्योंको परिणमन करानेके लिये कालाणुओंका असंख्यात मानना आवश्यक है, तो खण्डद्रव्य तो दोनों ही अनन्त अनन्त हैं फिर असंख्यात कालाणुओंसे अनन्तसंख्यक जीवों और अनन्तसंख्यक पुद्गलोंका परिणमन कैसे हो सकेगा? उन्हें भी अनन्त ही मानना चाहिये?

समाधान—नहीं, ऊपर बतला आये हैं कि अनन्त जीव और अनन्त पुद्गल ये दोनों अनन्तराशियां असंख्यातप्रदेश-मात्र लोकाकाशमें ही अवस्थित हैं। क्योंकि जीव और पुद्गलोंमें तो सूक्ष्म परिणमन होनेका और लोकाकाशके एक एक प्रदेशमें भी अनन्तानन्त पुद्गलों और जीवोंको अवगाहन देनेका स्वभाव है। अतः असंख्यातप्रदेशी लोकाकाशमें ही स्थित अनन्त जीवों और अनन्त पुद्गलोंको परिणमन करानेके लिये लोकाकाशके एक एक प्रदेशपर एक एक कालाणुको माननेपर भी

कम से कम और अधिक से अधिक लोकाकाशप्रमाण असंख्यात ही कालाणुओंका मानना आवश्यक एवं सार्थक है।

निश्चयकालद्रव्यका स्वरूप—

द्रव्यं कालाणुमात्रं गुणगणकलितं चाश्रितं शुद्धभावै-
स्तच्छुद्धं कालसंज्ञं कथयति जिनपो निश्चयाद्द्रव्यनीतेः।
द्रव्याणामात्मना सत्परिणमनमिदं वर्तना तत्र हेतुः
कालस्यायं च धर्मः स्वगुणपरिणतिर्धर्मपर्याय एषः ॥३८॥

अर्थ—गुणोंसे सहित और शुद्ध पर्यायोंसे युक्त कालाणुमात्र द्रव्यको जिनेन्द्रभगवानने द्रव्यार्थिक निश्चयनयसे शुद्ध काल-द्रव्य—अर्थात् निश्चयकाल कहा है। द्रव्योंके अपने रूपसे सत्परि-णामका नाम वर्तना है। इस वर्तनामें निश्चयकाल कारण होता है—द्रव्योंके अस्तित्वरूप वर्तनमें निश्चयकाल निमित्तकारण होता है। अपने गुणोंमें अपने ही गुणों द्वारा परिणमन करना काल द्रव्यका धर्म है—शुद्ध अर्थक्रिया है और यह उसकी धर्म-पर्याय है।

भावार्थ—निश्चयकालको परमार्थकाल कहते हैं। जैन सिद्धान्तकी यह विशेषता है कि वह द्रव्योंकी पर्याय या क्रिया-रूप व्यवहारकालके अलावा सूक्ष्म अणुरूप असंख्यात कालद्रव्य भी मानता है। और जिनका मानना आवश्यक ही नहीं अनि-वार्य भी है; क्योंकि व्यवहारकाल द्रव्यनिष्ठ पर्याय या क्रियाविशे-षरूपही पड़ता है और जब 'क्रियाविशेष' व्यवहारसे—उपचारसे काल है तो परमार्थकाल जरूर कोई उससे भिन्न होना चाहिए। क्योंकि बिना परमार्थके उपचार प्रवृत्त नहीं होता। यदि वास्तव-में 'काल' इस अखंडपदका वाच्यार्थ परमार्थतः कोई 'काल'

नामका पदार्थ न हो, तो व्यवहारकाल बन ही नहीं सकता है। अतः परमार्थकाल—कालाणुरूप निश्चयकाल अवश्य ही मानने योग्य है। इस परमार्थकालकी अपने ही गुणोंमें अपने ही गुणोंसे परिणमन करना 'धर्मपर्याय' है।

कालद्रव्यकी शुद्ध द्रव्यपर्याय और उसका प्रमाण—

पर्यायो द्रव्यात्मा शुद्धः कालाणुमात्र इति गीतः।
सोऽनेहसोऽणवश्चासंख्याता रत्नराशिरिव च पृथक् ॥३६॥

अर्थ—कालाणुमात्रको कालद्रव्यकी शुद्ध द्रव्यपर्याय कहा गया है। वे कालाणु असंख्यात हैं और रत्नोंकी राशिकी तरह पृथक् पृथक् हैं—अलग अलग हैं*।

भावार्थ—इसका खुलासा पहिले होचुका है। विशेष यह कि जो रत्नोंकी राशिका दृष्टान्त दिया गया है वह निश्चयकालद्रव्यको स्पष्टतया पृथक् पृथक् सिद्ध करनेके लिये दिया गया है।

व्यवहारकालका लक्षण—

पर्यायः किल जीवपुद्गलभवो यो शुद्धशुद्धाह्वय-
स्तस्यैतच्चलनात्मकं च गदितं कर्म क्रिया तन्मता।
तस्याः स्याच्च परत्वमेतदपरत्वं मानमेवाखिलं
तस्मान्मानविशेषतो हि समयादिर्भाक्तकालः स यः॥४०॥

अर्थ—जीव और पुद्गलसे होनेवाले शुद्ध और अशुद्ध परिणमनोंको पर्याय-परिणाम कहते हैं। इन पर्यायोंमें जो चलनरूप कर्म होता है वह क्रिया है। क्रियासे परत्व-ज्येष्ठत्व और अपरत्व-

---

* 'लोयायासपदेसे एक्केक्के जे ट्ठिया हु एक्केक्का।
रयणाणं रासीमिव ते कालाणू असंखदव्वाणि ॥'—द्रव्यसं० २२

कनिष्ठत्वका व्यवहार होता है। ये सब व्यवहारकालके मान—ज्ञापक लक्षण हैं—इन परिणामादिकेके द्वारा ही समय, घड़ी आदि व्यवहारकालकी प्रतीति होती है।

भावार्थ—परिणमन, क्रिया, परत्व और अपरत्व (कालकृत) ये सब व्यवहारकालके उपकार हैं। इनसे व्यवहारकाल जाना जाता है। सागर, पल्य, वर्ष, महिना, अयन, ऋतु, दिन, घड़ी, घंटा, मुहूर्त आदि सब व्यवहारकाल हैं। यह व्यवहार-काल सूक्ष्म निश्चयकालपूर्वक होता है—निश्चयकालकी सिद्धि इसी व्यवहारकालसे होती है। भूत, वर्तमान और भविष्यद् ये तीन भेद भी व्यवहार कालके ही हैं। क्योंकि द्रव्योंकी भूतादि क्रिया या पर्यायोंकी अपेक्षासे ये भेद होते हैं। और इसीलिये अन्यसे परिच्छिन्न तथा अन्यके परिच्छेदमें कारणभूत क्रियाविशेषको 'काल' व्यवहृत किया गया है*।

व्यवहारकालको निश्चयकालकी पर्याय कहनेका एक-देशीयमत—

एनं व्यवहृतिकालं निश्चयकालस्य गान्ति पर्यायम्।
वृद्धाः कथंचिदिति तद्विचारणीयं यथोक्तनयवादैः ॥४१॥

अर्थ—कोई पुरातनाचार्य इस व्यवहारकालको निश्चयकाल-की पर्याय कहते हैं। उनका यह कथन नय-कुशल विद्वानोंको 'कथंचित्' दृष्टिसे—किसी एक अपेक्षासे समझना चाहिये।

---

* 'परिणामादिलक्षणो व्यवहारकालः। अन्येन परिच्छिन्नोऽन्यस्य परिच्छेदहेतुः क्रियाविशेषः काल इति व्यवह्रियते। स त्रिधा व्यवतिष्ठते भूतो, वर्तमानो, भविष्यन्निति। तत्र परमार्थकाले कालव्यपदेशो मुख्यः। भूतादिव्यपदेशो गौणः। व्यवहारकाले भूतादिव्यपदेशो मुख्यः। कालव्यपदेशो गौणः। क्रियावद्द्रव्यापेक्षत्वात् कालकृतत्वाच्च।'—सर्वार्थसिद्धि ५-२२

भावार्थ—जो पुरातनाचार्य व्यवहारकालको निश्चयकालकी पर्याय कहते हैं, वे अशुद्ध पर्यायकी दृष्टिसे ऐसा प्रतिपादन करते हैं। क्योंकि निश्चयकालके आश्रित ही समय, घड़ी, दिन आदि व्यवहार-काल होता है। यदि निश्चयकाल न हो तो व्यवहारकाल नहीं हो सकता। अतः इस व्यहारकालको निश्चयकालकी अशुद्ध पर्याय माननेमें कोई हानि नहीं है और न कोई विरोध है। पहले जो कालाणुमात्रको निश्चयकालकी पर्याय कहा है, वह शुद्धपर्यायकी दृष्टिसे कहा है—अर्थात् व्यवहारकाल तो निश्चयकालकी अशुद्ध पर्याय है और कालाणुमात्र शुद्ध पर्याय है।

कालद्रव्यका अस्तिकाय न होने और शेष द्रव्योंको अस्तिकाय होनेका कथन—

अस्तित्वं स्याच्च षण्णामपि खलु गुणिनां विद्यमानस्वभावात् ।
पंचानां देशपिण्डात्समयविरहितानां हि कायत्वमेव ॥
सूक्ष्माणोश्चोपचारात्प्रचयविरहितस्यापि हेतुत्वसत्वात्
कायत्वं न प्रदेशप्रचयविरहितत्वाद्धि कालस्य शश्वत् ॥४२॥

इति श्रीमदध्यात्म-कमल-मार्तण्डाभिधाने शास्त्रे द्रव्यविशेष-प्रज्ञापकस्तृतीयः परिच्छेदः।

अर्थ—विद्यमानस्वभाव होनेसे छहों द्रव्य 'अस्ति' हैं—अस्तित्ववान हैं। और कालद्रव्यको छोड़कर शेष पाँच द्रव्य बहु-प्रदेशी होनेसे कायवान् हैं—इस तरह 'अस्ति' स्वरूप तो छहों द्रव्य हैं, किन्तु अस्ति और काय दोनों—अर्थात् अस्तिकाय केवल पाँच ही द्रव्य हैं*। कालद्रव्य अस्तिकाय नहीं है†। क्योंकि वह

---

* 'संति जदो तेणेदे अत्थि त्ति भणंति जिणवरा जम्हा ।
काया इव बहुदेसा तम्हा काया य अत्थिकाया य ॥'–द्रव्यसं० २४

† 'कालस्सेगो ण तेण सो काओ'—द्रव्यसं० २५

एक ही प्रदेशी हैं—बहु प्रदेशी नहीं है। यद्यपि सूक्ष्म पुद्गल परमाणु भी स्कन्धसे पृथकत्व अवस्थामें प्रदेशप्रचयसे रहित है—बहुप्रदेशी नहीं है—एक ही प्रदेशी है और इसलिये वह भी कायवान् नहीं हो सकता तथापि उसमें (परमाणुमें) स्कन्धरूप परिणत होनेकी शक्ति विद्यमान है। अतः प्रदेशप्रचयसे रहित—एक प्रदेशी भी पुद्गल परमाणुको उपचारसे कायवान् कहा है। पर कालद्रव्य सदैव प्रदेशप्रचय—बहुप्रदेशोंसे रहित है—एक प्रदेशमात्र है—इसलिये वह कायवान् नहीं कहा गया।

भावार्थ—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काकाश ये पाँच द्रव्य बहुप्रदेशी और अस्तित्ववान् हैं इसलिये ये पाँच द्रव्य तो 'अस्तिकाय' कहे जाते हैं। किन्तु कालद्रव्य अस्तित्ववान् होते हुये भी एकप्रदेशीमात्र होनेके कारण (बहुप्रदेशी न होनेसे) कायवान् नहीं है और इसलिये उसे अस्तिकाय नहीं कहा गया है। यद्यपि परमाणु भी एक-प्रदेशी है—बहुप्रदेशी नही है तथापि परमाणु अपनी परमाणु अवस्थाके पहिले स्कन्धरूप होने तथा आगे भी स्कन्धरूप परिणत हो सकनेके कारण उपचारसे बहुप्रदेशी माना गया है*। परन्तु कालाणुओंमें कभी भी अविष्वक्भाव (तादात्म्य) सम्बन्ध न हो सकनेसे उनमें एकात्मकपरिणति न तो पहले हुई और न आगे होनेकी सम्भावना है; क्योंकि वे (कालाणु) एक एक करके सदैव जुदे जुदे ही लोकाकाशके एक एक प्रदेशपर रत्नोंकी राशिकी तरह अवस्थित हैं। अतः काल-द्रव्य भूत-

* 'एयपदेसो वि अणू णाणाखंधप्पदेसदो होदि।
बहुदेसो उवयारा तेण य काओ भणंति सव्वण्हू ॥'—द्रव्यसं० २६

प्रज्ञापन-नय और भावि-प्रज्ञापन-नय इन दोनों प्रकारसे—अर्थात् उपचारसे भी अस्तिकाय नहीं है† ।

इस प्रकार श्रीअध्यात्मकमलमार्तण्ड नामक अध्यात्मग्रन्थमें द्रव्यविशेषोंका वर्णन करनेवाला तीसरा परिच्छेद समाप्त हुआ।

चतुर्थ परिच्छेद

जीवके वैभाविक भावोंका सामान्यस्वरूप और उनका भावाश्रव तथा भावबंधरूप होनेका निर्देश—

भावा वैभाविका ये परसमयरताः कर्मजाः प्राणभाजः
सर्वाङ्गीणाश्च सर्वे युगपदिति सदावर्तिनो लोकमात्राः ।
ये लक्ष्याश्चैहिकास्ते स्वयमनुमितितोऽन्येन चानैहिकास्ते
प्रत्यक्षज्ञानगम्याः समुदित इति भावस्रवो भावबन्धः ॥ १ ॥

अर्थ—प्राणियोंके परद्रव्यमें अपनेपनके अनुरागसे जो कर्म-जन्य भाव होते हैं वे वैभाविकभाव—विभाव-परिणाम हैं। और ये सब एक साथ आत्माके समस्त प्रदेशोंमें मिले हुये रहते हैं। सदा विद्यामान स्वभाव हैं—संसार अवस्था पर्यन्त हमेशा ही बने रहने वाले हैं। लोक-प्रमाण हैं—लोकाकाशके प्रदेशोंके बराबर (असंख्यात) हैं। इन वैभाविकभावोंमें जो ऐहिक—इसपर्याय जन्य

† 'अणोरप्येकदेशस्य पूर्वोत्तरभावप्रज्ञापननयापेक्षयोपचारकल्पनया प्रदेश प्रचय उक्तः। कालस्य पुनर्द्वेधाऽपि प्रदेशप्रचयकल्पना नास्ति इत्यकायत्वम्।' —सर्वार्थसिद्धि ५-३९

भाव हैं, वे अपने द्वारा तो अनुभवसे प्रतीत हैं और दूसरोंके द्वारा अनुमानगम्य हैं—अनुमानसे जानने योग्य हैं और जो अनैहिक—इसपर्यायजन्य नहीं हैं—पूर्वपर्यायजन्य हैं वे सर्वज्ञ-के प्रत्यक्षज्ञानसे जाने जाते हैं। ये सभी वैभाविक भाव भावाश्रव और भावबन्ध दोनोंरूप हैं।

भावार्थ—इस पद्यमें जीवोंके वैभाविक भावोंका निर्देश किया गया है और बताया गया है कि परपदार्थमें जो स्वात्मबुद्धिपूर्वक कर्मज भाव पैदा होते हैं वे वैभाविक भाव हैं। और ये सब आत्मामें सर्वाङ्गीण होते हैं। वैसे तो वे असंख्यात हैं, पर ऐहिक-भाव और अनैहिकभावके भेदसे दो तरहके हैं। और भावाश्रव तथा भावबन्धरूप हैं।

वैभाविकभावोंके भेद और उनका स्वरूप—

एतेषां स्युश्चतस्रः श्रुतमुनिकथिता जातयोऽतत्त्वश्रद्धा*
मिथ्यात्वं लक्षितं तद्धयविरतिरपि सा यो ह्यचारित्रभावः।
कालुष्यं स्यात्कषायः समलपरिणतौ द्वौ च चारित्रमोहः(हौ)
योगः [illegible]लनता वाङ्मनःकायमार्गैः ॥२॥

अर्थ—आस्रवत्रिभंगीकार आचार्य श्रुतमुनिने इन भावोंकी चार जातियाँ—भेद कहे हैं‡—(१) मिथ्यात्व (२) अविरति (३) कषाय और (४) योग। इनमें अतत्त्वश्रद्धान—विपरीतश्रद्धानका नाम मिथ्यात्व है†। अचारित्रभाव—चारित्रका धारण नहीं

---

* 'मर्त्यं तावन्' मुद्रितप्रतौ पाठः।

‡ 'मिच्छत्तं अविरमणं कसाय जोगा य आसवा होंति।'—आस्रवत्रिभं० २

† मिच्छोदयेण मिच्छत्तमसद्दहणं तु तच्चअत्थाणं।'—आस्रवत्रिभं० ३

करना—हिंसादिकोंमें प्रवृत्ति करना अविरति है‡। कलुषता—राग-द्वेष आदिका नाम कषाय है। यह कषाय समलपरिणाम—मलिन परिणामरूप चारित्रमोह है। उसके दो भेद हैं १—कषाय और २—नोकषाय अथवा राग और द्वेष। मन, वचन और कायके निमित्तसे आत्माके प्रदेशोंमें चलनता—हलनचलनरूप क्रियाका होना योग है ×। इस तरह वैभाविकभावोंके मिथ्यात्व आदि चार ही भेद हैं।

भावार्थ—वैभाविकभावोंके उक्त चार भेद आचार्य श्रुतमुनि—की परम्पराके अनुसार कहे गये हैं। दूसरे आचार्य 'प्रमाद' को मिलाकर पांच भेद वर्णित करते हैं*। किन्तु यहां पं० राजमल्ल जीने जो आचार्य श्रुतमुनिके कथनानुसार चार भेद बतलाये हैं वे प्रमाद और कषायमें अभेद मानकर ही कहे गये मालूम पड़ते हैं; क्योंकि 'प्रमाद' कषायका ही परिणाम है। जैसा कि 'प्रमत्त-योगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा' [तत्वार्थ० ६-१३] इस सूत्रके व्याख्यानमें आचार्य पूज्यपादने 'प्रमादःसकषायत्वं' [सर्वार्थसिद्धि ६- १३] कहकर प्रमादका अर्थ सकषायता किया है। अतः प्रमाद और कषायमें अभेद मानकर वैभाविक भावोंके चार भेद और उनमें ही भेद मानकर पांच भेद करनेमें कोई सिद्धान्त-

‡ 'छस्सिंदिएसुऽविरदी छज्जीवे तह य अविरदी चेव'—आस्रवत्रिभं० ४

× 'मणवयणाण पउत्ती सच्चासच्चुभयअणुभयत्थेसु।
तण्णामं होदि तदा तेहिं दु जोगा दु तज्जोगा ॥—आ० त्रि० ७
ओरालं तम्मिस्सं वेगुव्वं तस्स मिस्सयं होदि।
आहारय तमिस्सं कम्मइयं कायजोगेदे ॥' आ० त्रि० ८

* 'मिच्छत्ताविरदिपमादजोगकोहादओऽथ विण्णेया।'
—द्रव्यसंग्रह ३०

विरोध या असङ्गति नहीं है। दोनों ही परम्परायें एवं मान्यतायें प्रमाणभूत हैं और मान्य हैं। एक तीसरी प्रकारकी भी मान्यता है, जो कषाय और योग दोनों को ही मानती है‡। सूक्ष्मदृष्टिसे देखने-पर मिथ्यात्व और अविरति ये दोनों कषायके स्वरूपसे अलग नहीं पड़ते, अतः कषाय और योग इन दोकी मान्यता भी कोई विरुद्ध या असङ्गत नहीं है। इस तरहसे संख्या और उसके कारण नामोंमें भेद रहनेपर भी तात्त्विकदृष्टिसे इन परम्पराओंमें कुछ भी भेद नहीं है। विपरीत अभिनिवेश—अर्थात् अतत्त्वमें तत्त्व-बुद्धि, अदेवमें देवबुद्धि, अगुरुमें गुरुबुद्धि करना मिथ्यात्व है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँच पापोंका न तो एक देश त्याग करना और न सर्व देश त्याग करना, सो अवि-रति है। रागद्वेषरूप परिणामोंका होना, गुस्सा करना, अभिमान करना, मायाचारी दग़ाबाज़ी आदि करना और लोभ करना यह सब कषाय है। मनमें अच्छा या बुरा विचार होनेपर, वचनसे अच्छे या बुरे शब्द कहनेपर और शरीरसे अच्छी या बुरी चेष्टा करनेपर आत्मप्रदेशोंमें जो परिस्पन्द होता है वह योग है। इस तरह कुल वैभाविकभाव इन चार भेदोंमें विभाजित हैं। इन्हींको बन्धहेतु—आस्रव कहते हैं।

वैभाविकभावोंके भावास्रव और भावबन्धरूप होनेमें शंका-समाधान—

चत्वारः प्रत्ययास्ते ननु कथमिति भावास्रवो भावबंध-
श्चैकत्वाद्वस्तुतस्ते बत मतिरिति चेत्तन्न शक्तिद्वयात् स्यात्†

---

‡ 'जोगा पयडि-पदेसा ठिदि-अणुभागा कसायदो होंति।'
—द्रव्यसंग्रह ३३

† 'शक्तिद्वयोः स्यात्' मुद्रितप्रतौ पाठः।

एकस्यापीह वन्हेर्दहनपचनभावात्मशक्तिद्वयाद्वै‡
वह्निः स्याद्दाहकश्च स्वगुणगणबलात्पाचकश्चेति सिद्धेः ॥३॥

शंका—वे मिथ्यात्व आदि चार प्रत्यय—वैभाविकभाव भावस्रव और भावबंध इन दोनोंरूप किस प्रकार सम्भव हैं? क्योंकि वे भाव वास्तवमें एक ही हैं—एक ही प्रकारके हैं—भावास्रव या भावन्ध दोनोंमेंसे कोई एक ही प्रकारके हो सकते हैं?

समाधान—ऐसी शंका करना ठीक नहीं है; दो शक्तियोंकी अपेक्षा भावास्रव और भावबन्ध ऐसे दो भेद हैं। एक ही अग्नि दहन और पचनरूप अपनी दो शक्तियोंकी अपेक्षासे जिस प्रकार दाहक भी है और पाचक भी। उसी प्रकार मिथ्यात्व आदि चारों भाव अपनी भिन्न दो शक्तियोंकी अपेक्षा भावास्रवरूप भी हैं और भावबंधरूप भी हैं।

भावार्थ—यहाँ यह शंका की गई है कि पूर्वोक्त मिथ्यात्व आदि चारों भाव भावास्रव और भावबन्ध दोनों प्रकारके संभव नहीं हैं, उन्हें या तो भावास्रव ही कहना चाहिये या भावबन्ध ही। दोनोंरूप मानना संगत एवं अविरुद्ध प्रतीत नहीं होता। इस शंकाका उत्तर यह दिया गया है कि जिस प्रकार एक ही अग्नि अपनी दहन और पचनरूप दो शक्तियोंसे दाहक भी है और पाचक भी है उसी प्रकार उक्त वैभाविकभावोंमें विभिन्न दो शक्तियोंके रहनेसे वे भावास्रव भी हैं और भावबन्ध भी हैं, ऐसा माननेमें कुछ भी असंगति या विरोध नहीं है।

---

‡ 'शक्तिद्वंयाद्वै' मुद्रितप्रतौ पाठः।

उक्त विषयका स्पष्टीकरण—

मिथ्यात्वाद्यात्मभावाः प्रथमसमय एवास्रवे हेतवः स्युः
पश्चात्तत्कर्मबन्धं प्रतिसमसमये तौ भवेतां कथंचित् ।
नव्यानां कर्मणामागमनमिति तदात्वे हि नाम्नास्रवः स्या-
दायत्यां स्यात्स बन्धः स्थितिमिति लयपर्यन्तमेषोऽनयोर्भित् ॥४

अर्थ—मिथ्यात्व आदि वैभाविकभाव प्रथम समयमें ही आस्रवमें कारण होते हैं, पीछे—दूसरे समयमें कर्मबन्ध होता है। आगे तो प्रत्येक समयमें कथंचित् वे दोनों ही होते हैं। जिस समय नवीन कर्मोंका आगमन होता है उस समय तो वह आस्रव है और आगेकी नाशपर्यन्त स्थिति—सत्ताका नाम बन्ध है। यही इन दोनोंमें भेद है।

भावार्थ—उक्त वैभाविकभाव भावास्रव और भावबंध किस प्रकार हैं, इस बातका इस पद्यके द्वारा खुलासा किया गया है और कहा गया है कि मिथ्यात्व आदि पहिले समयमें तो आस्रवके कारण हैं और दूसरे समयमें कर्मबंध कराते हैं। इसके आगे तो प्रति समय वे दोनों ही होते हैं। तत्कालीन नवीन कर्मोंका आगमन आस्रव है और उनका नाश पर्यन्त बने रहना बन्ध है, इस तरह उपर्युक्त वैभाविकभावोंमें भावास्रव और भावबंध दोनों बन जाते हैं।

पुनः उदाहरणपूर्वक स्पष्टीकरण—

वस्त्रादौ स्नेहभावो न परमिह रजोभ्यागमस्यैव हेतु-
र्यावत्स्याद्धूलिबन्धः स्थितिरपि खलु तावच्च हेतुः स एव ।
सर्वेऽप्येवं कषाया न परमिह निदानानि कर्मागमस्य
बन्धस्यापीह कर्मस्थितिमतिरिति यावन्निदानानि भावात् ॥५॥

अर्थ—कपड़े आदिमें, जो स्नेहभाव—तैल आदिका सम्बन्ध होता है वह ही धूलिके आगमन—आनेका कारण होता है—कपड़ेपर धूलिके चिपकनेमें हेतु होता है, दूसरी कोई वस्तु नहीं। और जबतक धूली चिपकी हुई रहती है तबतक स्थिति भी उसकी बनी रहती है और तभी तक वह कारण भी मौजूद रहता है। इसी तरह सभी कषायें कर्मास्रवकी कारण हैं और दूसरा कोई नहीं और जब तक यह कर्मबंध है तभी तक कर्म-स्थिति—कर्मकी मौजूदगी और कर्मस्थितिकी निदानभूत कषायें आत्मामें बनी रहती हैं।

भावार्थ—यों तो कर्मबंधका कारण योग भी है, परन्तु अत्यन्त दुःखदायक स्थिति और अनुभागरूप कर्मबंधका कारण कषाय ही है*। जब तक यह कषाय आत्मामें मौजूद रहती है तबतक कर्मस्थिति भी बनी रहती है और नये नये कर्मबंध होते रहते हैं। कपड़ेपर जबतक जितनी और जैसी चिक्कणता होगी—तैल आदि चिकने पदार्थका सम्बन्ध होगा तबतक उतनी ही धूलि उस कपड़ेपर चिपकती रहेगी। अतः कर्मबंधका मुख्य कारण कषाय ही है और इसीलिये 'कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव' कषायकी मुक्तिको मुक्ति कहा गया है। अतएव मुमुक्षुजन सर्व-प्रथम रागद्वेषरूप कषायको ही मन्द करने और छोड़नेका प्रयत्न करते हैं।

कर्मबंधव्यवस्था तथा द्रव्यास्रव और द्रव्यबंधका लक्षण—

सिद्धाः कार्मणवर्गणाः स्वयमिमा रागादिभावैः किल
ता ज्ञानावरणादिकर्मपरिणामं यान्ति जीवस्य हि।

---

* 'सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बन्धः।'
—तत्त्वार्थसू० ८-२

सर्वाङ्गं प्रति सूक्ष्मकालमनिशं तुल्यप्रदेशास्थिताः
स्याद्द्रव्यास्रव एष एकसमये बन्धश्चतुर्धाऽन्वयः ॥ ६ ॥

अर्थ—कार्मणवर्गणाएँ—एक तरहकी पुद्गलवर्गणाएँ, जिनमें कर्मरूप होकर जीवके साथ बंधनेकी शक्ति विद्यमान होती है और जो समस्त लोकमें व्याप्त हैं—जीवके रागादिभावोंके द्वारा ज्ञानावरण आदि अष्टकर्मरूप परिणमनको प्राप्त होती हैं—आत्माके राग, द्वेष आदि भावोंसे खिचकर ज्ञानावरण आदिकर्मोंके रूपमें आत्माके साथ बंधको प्राप्त होती हैं। तथा सर्वाङ्गों—सम्पूर्ण शरीरप्रदेशोंसे आत्मामें प्रतिसमय आती रहती हैं और आत्माके समस्त प्रदेशोंमें स्थित हैं। सर्वज्ञदेवके प्रत्यक्षज्ञानसे और आगमसे सिद्ध हैं। इन कार्मणवर्गणाओंका आत्मामें आना द्रव्यास्रव और आत्मप्रदेशोंके साथ कर्मप्रदेशोंका अनुप्रवेश-एकमेक होजाना द्रव्यबंध है और वह द्रव्यबंध चार प्रकारका है।

भावार्थ—पुद्गलद्रव्यकी तेईस वर्गणाओंमें आहारवर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गणा, तैजसवर्गणा और कार्मणवर्गणा ये पाँच वर्गणायें ही ऐसी हैं जिनका जीवके साथ बंध होता है। इनमें कार्मणवर्गणाके स्कन्ध रागादिभावोंके द्वारा ज्ञानावरणादि आठ कर्मरूप परिणमते हैं और जीवके साथ बंधको प्राप्त होते हैं। तथा समयपर अपना फल देते हैं। अथवा तपश्चर्या आदिके द्वारा किन्हीं जीवोंके वे कर्मफल देनेके पहिले ही झड़ जाते हैं। इन कार्मणवर्गणाओंका कर्मरूप परिणत होकर आत्मामें आना द्रव्यास्रव है और उनका आत्माके प्रदेशोंके साथ परस्पर अनुप्रवेशात्मक सम्बन्ध होना द्रव्यबन्ध है।

द्रव्यबन्धके भेद और उनके कारण—

प्रकृति-स्थित्यनुभाग-प्रदेशभेदाच्चतुर्विधो बन्धः।
प्रकृति-प्रदेशबन्धौ योगात्स्यातां कषायतश्चान्यौ ॥७॥

अर्थ—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध ये चार द्रव्यबन्धके भेद हैं। इनमें प्रकृति और प्रदेशबन्ध तो योगसे होते हैं और अन्य—स्थिति तथा अनुभागबन्ध कषायसे होते हैं।

भावार्थ—ज्ञानावरण आदि कर्म-प्रकृतियोंमें ज्ञान, दर्शन आदिके घातक स्वभावके पड़नेको प्रकृतिबन्ध कहते हैं। यह प्रकृतिबन्ध दो प्रकारका है :—(१) मूलप्रकृतिबन्ध और (२) उत्तरप्रकृतिबन्ध। मूलप्रकृतिबन्धके आठ भेद हैं—(१) ज्ञानावरण (२) दर्शनावरण, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयु, (६) नाम, (७) गोत्र और (८) अन्तराय। जो आत्माके ज्ञानगुणको ढांके—उसे न होने दे उसको ज्ञानावरण कर्म कहते हैं। जो दर्शनगुणको घाते, उसे दर्शनावरण कर्म कहते हैं। जिस कर्मके उदयसे सुखदुःख देनेवाली इष्टानिष्ट सामग्री प्राप्त हो वह वेदनीयकर्म, जिस कर्मके उदयसे परवस्तुओंको अपना समझे वह मोहनीय, जिसके उदयसे यह जीव मनुष्य आदि पर्यायमें स्थिर रहे वह आयु, जिसके उदयसे शरीर आदि प्राप्त करे वह नाम-कर्म, जिसके उदयसे यह जीव ऊँच, नीच कहलाये वह गोत्र और जिसके उदयसे दान, लाभ आदिमें विघ्न हो वह अन्तरायकर्म है। उत्तर प्रकृतिबन्धके १४८ भेद हैं—ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ६, वेदनीय २, मोहनीय २८, आयु ४, नाम ९३, गोत्र २ और अन्तराय ५। परिणामोंकी अपेक्षा कर्म-प्रकृतियोंके असंख्य भी भेद हैं। स्थिति—कालकी मर्यादाके पड़नेको

स्थितिबन्ध कहते हैं, इसके भी अनेक भेद हैं। फलदानशक्ति-के पड़नेको अनुभागबन्ध कहते हैं। तथा कर्मप्रदेशोंकी संख्याका नाम प्रदेशबन्ध है। यह प्रदेशबन्ध आत्माके सर्व प्रदेशोंमें एक-क्षेत्रावगाहरूपसे स्थित है और अनन्तान्त प्रमाण है। इन चार प्रकारके बन्धोंमें प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध तो योगोंसे और स्थितिबन्ध तथा अनुभागबन्ध कषायोंसे होते हैं।

योग और कषायके एक साथ होनेका नियम—

युगपद्योगकषायौ पटचिक्कणकम्पवच्चितः* स्याताम् ।
बन्धोऽपि चतुर्धा स्याद्धेतुप्रतिनियतशक्तितो भेदः ॥८॥

अर्थ—योग और कषाय आत्मामें उसी प्रकार एक साथ होते हैं जिस तरह चिक्कण और सकंप कपड़ेमें चिक्कणता और सकंपता एक साथ होती है? यह चार प्रकारका बन्ध भी अपने कारणोंकी प्रतिनियत—भिन्न भिन्न शक्तिकी अपेक्षा भेदवान् है—अवान्तर अनेक भेदों और प्रभेदोंवाला है।

भावार्थ—योग और कषाय ये दोनों आत्मामें एक साथ रहते हैं। ज्योंही मन, वचन और कायके निमित्तसे आत्मा-के प्रदेशोंमें क्रिया हुई त्यों ही कर्मस्कन्ध खिंचे और खिंचकर आत्माके पास आते ही कषाय उन्हें आत्माके प्रत्येक प्रदेशके साथ चिपका देती है। जिस प्रकार कि चिक्कण और सकंप कपड़े-पर धूलि आकर चिपक जाती है। उक्त चार प्रकारका बन्ध इन दोनोंसे हुआ करता है। प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्धमें योगकी प्रधानता रहती है और स्थितिबन्ध तथा अनुभागबन्धमें कषाय की। यह चार प्रकारका बन्ध और कितने ही भेदोंवाला है। इन

† 'चिक्कणपटकम्पवंचितः' मुद्रितप्रतौ पाठः ।

भेदोंको कर्मविषयक ग्रन्थोंसे जानना चाहिये। कुछ भेदोंको संक्षेपमें पूर्वपद्यकी व्याख्यामें भी बतला आये हैं।

भावसंवर और भावनिर्जराका स्वरूप—

त्यागो भावास्रवाणां जिनवरगदितः संवरो भावसंज्ञो
भेदज्ञानाच्च स स्यात्स्वसमयवपुषस्तारतम्यः कथंचित् ।
सा शुद्धात्मोपलब्धिः‡ स्वसमयवपुषो× निर्जरा भावसंज्ञा
नाम्ना भेदोऽनयोः स्यात्करणविगमतः† कार्यनाशप्रसिद्धेः॥६॥

अर्थ—भावास्रवके रुक जानेको जिनेन्द्रदेवने भावसंवर कहा है*। यह भावसंवर आत्मा तथा शरीरके भेदज्ञान—'आत्मा अलग है शरीर अलग है'—इस प्रकारके ज्ञानसे तारतम्य—कमती-बढ़तीरूपमें होता है। अपने आत्मा और शरीरका भेदज्ञान होनेसे जो शुद्ध आत्माकी उपलब्धि होती है वह भावनिर्जरा है÷। इन दोनों (भावसंवर और भावनिर्जरा)में यही अन्तर है। 'कारणके नाशसे कार्यका नाश होता है' यह प्रसिद्ध ही है अतः संचित और आगामी दोनों ही संसारके कारणभूत कर्मोंके अभाव

‡ 'शुद्धात्मोपलब्धे' मुद्रितप्रतौ पाठः।

× 'वपुषा' मुद्रितप्रतौ पाठः।

† 'विगतः' मुद्रितप्रतौ पाठः।

* येनांशेन कषायाणां निग्रहः स्यात्सुदृष्टिनाम।
तेनांशेन प्रयुज्येत संवरो भावसंज्ञकः॥

—जम्बूस्वामिचरित १३-१२३

÷ आत्मनः शुद्धभावेन गलत्येतत्पुराकृतम।
वेगाद्भुक्तरसं कर्म सा भवेद्भावनिर्जरा॥

—जम्बूस्वामिचरित १३-१२७

हो जानेपर संसाररूप कार्यका भी अभाव अवश्य हो जाता है—अर्थात् आत्माको अपने शुद्धस्वरूपकी उपलब्धि हो जाती है और इसी उपलब्धिका नाम भावनिर्जरा है।

भावार्थ—नये राग-द्वेष आदि भावकर्मोका रुक जाना भाव-संवर है। जैसा कि आ० उमास्वामिका वचन है—'आस्रवनिरोधः संवरः' (तत्त्वार्थसूत्र ६-१)—अर्थात् आस्रवके बन्द हो जानेको संवर कहते हैं। इसके होनेपर फिर नवीन कर्मोका बन्ध नहीं होता और इस तरह आत्मा लघुकर्मा हो जाता है। भावसंवरको प्राप्त करनेका उपाय यह है कि शरीर और शरीरसे सम्बन्धित स्त्री, पुत्र आदि पर-पदार्थोंमें आत्मत्वकी बुद्धिका त्याग करे—बहिरात्मापनेकी मिथ्याबुद्धिको छोड़े और आत्मा तथा आत्मीय भावों (उत्तमक्षमादिकों) में ही आत्मपनेकी बुद्धि करे—अन्तरात्मापनेकी सम्यक्दृष्टिको अपनावे। इस प्रकार फिर नवीन कर्मोका आस्रव नहीं होगा। यही वजह है कि सम्यग्दृष्टिकी क्रियायें संवर और निर्जराकी ही कारण होती हैं और मिथ्यादृष्टिकी क्रियायें बन्ध और आस्रवकी†।

संचित कर्मोके अभाव हो जानेपर शुद्ध आत्माकी उपलब्धि (अनुभव) होना भावनिर्जरा है। आत्माके इस शुद्ध स्वरूपके आच्छादक नवीन और संचित दोनों ही प्रकारके कर्म हैं। संवरके द्वारा तो नवीन कर्मोका निरोध होता है और निर्जराके द्वारा संचित कर्म नष्ट होते हैं। इस प्रकार शुद्धस्वरूपके आवरणोंके

† 'ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ताः सर्वे भावा भवन्ति हि।
सर्वेऽप्यज्ञाननिर्वृत्ता भवन्त्यज्ञानिनस्तु ते ॥'
—नाटकसमयसा० कर्तृकर्माधि० श्लोक २२

हट जानेपर नियमसे उसका अनुभव होता है और इस शुद्धस्वरूपकी अनुभूतिका ही नाम भावनिर्जरा है।

एक शुद्धभावके भावसंवर और भावनिर्जरा दोनोंरूप होनेमें शंका-समाधान—

एकः शुद्धो हि भावो ननु कथमिति जीवस्य शुद्धात्मबोधा-
द्भावाख्यः संवरः स्यात्स इति खलु तथा निर्जरा भावसंज्ञा।
भावस्यैकत्वतस्ते मतिरिति यदि तन्नैव शक्तिद्वयात्स्या-*
त्पूर्वोपात्तं हि कर्म स्वयमिह विगलेन्नैव‡ बध्येत नव्यम् ॥१०॥

शंका—शुद्धभाव एक है, वह जीवके शुद्धात्माके ज्ञानसे होनेवाले भावसंवर और भावनिर्जरा इन दो रूप कैसे है? अर्थात् एक शुद्ध भावके भाव-संवर और भाव-निर्जरा ये दो भेद नहीं हो सकते हैं?

समाधान—ऐसा मानना ठीक नहीं हैं; क्योंकि उस एक शुद्धभावमें दो शक्तियाँ विद्यमान रहती हैं। इन दो शक्तियोंके द्वारा शुद्धभावसे भावसंवर और भावनिर्जरा ये दो कार्य निष्पन्न होते हैं। एक शक्तिके द्वारा पहले बंधे हुए कर्म झड़ते हैं और दूसरी शक्तिसे नवीन कर्मोंका आस्रव रुकता है। इस तरह दो शक्तियों-की अपेक्षा एक शुद्धभावसे दो प्रकारके कार्यों (भावसंवर और भाव-निर्जरा)के होनेमें कोई बाधा नहीं है।

भावार्थ—दृष्टान्त द्वारा अगले पद्यमें ग्रन्थकार स्वयं ही इस बातको स्पष्ट करते हैं कि एक शुद्धभावके भावसंवर और भाव-निर्जरा ये दो कार्य बन सकते हैं।

---

* 'शक्तिर्द्वयोः स्यात्' मुद्रितप्रतौ पाठः।

‡ 'विगलेतैव' मुद्रितप्रतौ पाठः।

दृष्टान्तद्वारा उक्त कथनका स्पष्टीकरण—

स्नेहाभ्यङ्गाभावे गलति रजः पूर्वबद्धमिह नूनम् ।
नाऽप्यागच्छति नव्यं यथा तथा शुद्धभावतस्तौ द्वौ ॥११॥

अर्थ—स्नेह—घी, तैल आदि चिकने पदार्थोंके लेपका अभाव होनेपर जिस प्रकार पहलेकी चिपकी हुई धूलि निश्चयसे झड़ जाती है—दूर हो जाती है और नवीन धूलि चिपकती नहीं है, उसी तरह शुद्ध-भावसे संचित कर्मोंका नाश और नवीन कर्मोंका निरोध होता है। इस प्रकार शुद्ध-भावसे संवर और निर्जरा दोनों होते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार घी, तैल आदि चिकने पदार्थोंका लेप करना छोड़ देनेपर पहलेकी लगी हुई धूलि दूर हो जाती है और नई धूलि लगती नहीं है, उसी तरह आत्माके व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुपेक्षा, परीषहजय और तप इन शुद्ध भावोंसे संवर—नये कर्मोंका न आना और निर्जरा—संचित कर्मोंका छूट जाना ये दोनों कार्य होते हैं, इसमें बाधादि कोई दोष नहीं है।

द्रव्यसंवरका स्वरूप—

चिदचिद्भेदज्ञानान्निर्विकल्पात्समाधितश्चापि ।
कर्मागमननिरोधस्तत्काले द्रव्यसंवरो गीतः ॥ १२ ॥

अर्थ—आत्मा और शरीरके भेदज्ञान और निर्विकल्पक समाधिसे जो उस कालमें आगामी कर्मोंका निरोध—रुकना होता है वह द्रव्यसंवर है† ।

† 'कर्मणामास्रवाभावो रागादीनामभावतः ।
तारतम्यतया सोऽपि प्रोच्यते द्रव्यसंवरः ॥'—जम्बूस्वा० १३-१२४

भावार्थ—व्रत समिति आदिके द्वारा आते हुये द्रव्य-कर्मोंका रुक जाना द्रव्यसंवर है।

द्रव्यनिर्जराका लक्षण—

शुद्धादुपयोगादिह निश्चयतपसश्च संयमाद्वा ।
गलति पुरा बद्धं किल कर्मैषा द्रव्यनिर्जरा गदिता ॥१३॥

अर्थ—शुद्धोपयोगसे और निश्चयतपों—अन्तरङ्गतपोंसे अथवा संयमादिकोंसे जो पूर्वबद्ध—पहिले बंधे हुये कर्म झड़ते हैं वह द्रव्यनिर्जरा कही गई है।

भावार्थ—समय पाकर या तपस्या आदिके द्वारा जो कर्मपुद्गल नाशको प्राप्त होते हैं वह द्रव्यनिर्जरा है। यह द्रव्यनिर्जरा भाव-निर्जराकी तरह सविपाक और अविपाक दोनों तरहकी होती है। कर्मकी स्थिति पूरी होनेपर फल देकर जो कर्म-पुद्गल झड़ते हैं वह सविपाक द्रव्यनिर्जरा है और स्थिति पूरी किये बिना ही तपस्या आदि प्रयत्नोंके द्वारा जो कर्म-पुद्गल प्रदेशोदयमें आकर नाश होते हैं वह अविपाक द्रव्यनिर्जरा है।

मोक्षके दो भेद—

मोक्षो लक्षित एव हि तथापि संलक्ष्यते यथाशक्ति ।
भाव-द्रव्यविभेदाद्द्विविधः स स्यात्समाख्यातः ॥ १४ ॥

अर्थ—'मोक्षतत्त्व'का निरूपण यद्यपि पहिले कर आये हैं तथापि यहाँ पुनः उसका लक्षण क्रम-प्राप्त होनेके कारण किया जाता है। वह मोक्ष भाव और द्रव्यके भेदसे दो प्रकारका कहा गया है*।

* 'सव्वस्स कम्मणो जो खयहेदू अप्पणो हु परिणामो ।
णेयो स भाव-मोक्खो दव्व-विमोक्खो य कम्म-पुधभावो ॥'—द्रव्यसं० ३७

भावार्थ—'मोक्ष' के दो भेद हैं—(१) भावमोक्ष और (२) द्रव्यमोक्ष। इनका स्वरूप स्वयं ग्रन्थकार आगे कहते हैं।

भावमोक्षका स्वरूप—

स्वोत्कृष्टविशुद्धिर्बोधमती कृत्स्नकर्मलयहेतुः।
ज्ञेयः स भाव-मोक्षः कर्मक्षयजा विशुद्धिरथ च स्यात्॥१५॥

अर्थ—सब कर्मोंके क्षय(नाश)को करनेवाली और स्वयं कर्मविनाशसे होनेवाली सम्यग्ज्ञानविशिष्ट—अनन्तज्ञानस्वरूप आत्माकी परमोच्च विशुद्धि—पूर्ण निर्मलताको भावमोक्ष जानना चाहिये।

भावार्थ—भावमोक्ष दो प्रकारका है—(१) अपर-भाव-मोक्ष और (२) पर-भाव-मोक्ष।

१. अपर-भाव-मोक्ष—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिया कर्मोंके क्षयसे तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानवर्ती सयोगकेवली और अयोगकेवली-जिनके आत्मामें जो विशुद्धि—निर्मलता होती है उसे अपरभावमोक्ष कहते हैं। और यह ही विशुद्धि सम्पूर्ण कर्मोंके क्षयमें कारण होती है।

२. पर-भाव-मोक्ष—अघातिया—वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र इन चार—कर्मोंके भी नाश हो जानेपर आत्मामें जो सर्वोच्च विशुद्धि— पूर्ण निर्मलता—सिद्ध अवस्था प्राप्त होती है उसे पर-भाव-मोक्ष कहते हैं। यद्यपि अरहंत और सिद्ध भगवानके अनन्तज्ञानादि समान होनेसे आत्म-निर्मलता भी एक जैसी है तथापि चार कर्मों और आठकर्मोंके नाशकी अपेक्षासे उस निर्मलतामें औपाधिक भेद है।

द्रव्यमोक्षका स्वरूप—

परमसमाधि-बलादिह बोधावरणादि-सकलकर्माणि ।
चिद्देशेभ्यो भिन्नीभवन्ति स द्रव्यमोक्ष इह गीतः ॥१६॥

अर्थ—उत्कृष्ट समाधि—शुक्लध्यानके बलसे ज्ञानावरण आदि समस्त कर्मोंका आत्मासे सर्वथा पृथक् होना—अलग होजाना द्रव्यमोक्ष कहा गया है।

भावार्थ—इस द्रव्यमोक्षके भी दो भेद हैं–(१) अपर-द्रव्य-मोक्ष और (२) पर-द्रव्य-मोक्ष। ज्ञानावरण आदि चार घातिया कर्मोंका आत्मासे छूटना अपर-द्रव्य-मोक्ष है और घातिया तथा अघातिया आठों ही कर्मोंका आत्मासे अलग होना पर-द्रव्य-मोक्ष है। यह दोनों ही तरहका मोक्ष उत्कृष्टसमाधि–शुक्लध्यानसे प्राप्त होता है। मोक्ष अजर है। अमर है। किसी प्रकारकी वहाँ बाधा नहीं है। सब दुखोंसे रहित है†। चिदानन्दस्वरूप है। परमसुख और शान्तिमय है। पूर्ण है। मुमुक्षु भव्यात्माओं द्वारा सदा आराधन और प्राप्त करने योग्य है।

निर्जरा और मोक्षमें भेद—

देशेनैकेन गलत्कर्मविशुद्धिश्च देशतः सेह ।
स्यान्निर्जरा पदार्थो मोक्षस्तौ सर्वतो द्वयोर्भिदिति*॥१७॥

अर्थ—एक देश कर्मोंका झड़ना और एक देश विशुद्धि—निर्मलताका होना निर्जरा है तथा सर्वदेश कर्मोंका नाश होना और सम्पूर्ण विशुद्धि होना मोक्ष है। यही इन दोनोंमें भेद है।

---

† 'जन्मजरामयमरणैः शोकैर्दुःखैर्भयैश्च परिमुक्तम् ।
निर्वाणं शुद्धसुखं निःश्रेयसमिष्यते नित्यम् ॥'—रत्नकरण्ड श्रा० १३१

* 'द्वयोभिरिति' मुद्रितप्रतौ पाठः ।

पुण्यजीव और पापजीवोंका कथन—

शुभभावैर्युक्ता ये जीवाः पुण्यं भवन्त्यभेदात्ते।
संक्लेशैः पापं तद्द्रव्यं द्वितीयं च पौद्गलिकम् ॥१८॥

अर्थ—जो जीव शुभ परिणामवाले हैं वे अभेदविवक्षासे पुण्य हैं—पुण्य-जीव हैं और जो संक्लेशसे युक्त हैं वे पाप हैं—पाप-जीव हैं; किन्तु पुण्य और पाप ये दोनों पुद्गलकर्म हैं।

भावार्थ—जिन कर्मोंके उदयसे जीवोंको सुखदायी इष्ट सामग्री प्राप्त हो उन कर्मोंको 'पुण्य' कर्म कहते हैं और जिन कर्मोंके उदयसे दुःखदायी अनिष्ट सामग्री प्राप्त हो उन कर्मोंको 'पाप' कर्म कहते हैं। इन दोनों (पुण्य और पाप) का जीवके साथ सम्बन्ध होनेसे जीव भी अभेददृष्टिसे दो तरहके कहे गये हैं— (१) पुण्यजीव और (२) पापजीव। जिन जीवोंके 'पुण्य-कर्मों' का सम्बन्ध है वे पुण्यजीव हैं और जिनके 'पाप-कर्मों' का सम्बन्ध है वे पापजीव हैं।

शास्त्रसमाप्ति और शास्त्राध्यनका फल—

ये जीवाः परमात्मबोधपटवः शास्त्रं त्विदं निर्मलं
नाम्नाऽध्यात्म-पयोज-भानु कथितं द्रव्यादिलिङ्गं स्फुटम्।
जानन्ति प्रमितेश्च शब्दबलतो यो वाऽर्थतः श्रद्धया
ते मद्दृष्टियुता भवन्ति नियमाद्ध्वान्तमोहाः स्वतः ॥१९॥

अर्थ—जो भव्यजीव परमात्माके बोध करनेमें निपुण होते हुए इस 'अध्यात्मकमलमार्तण्ड' नामक निर्मल अध्यात्म-ग्रन्थको, जिसमें द्रव्यादि पदार्थोंका विशद वर्णन किया गया है, प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे तथा शब्द और अर्थके साथ श्रद्धापूर्वक जानते हैं—

विचार करते हैं—पढ़ते पढ़ाते और सुनते सुनाते हैं—वे नियमसे मोह—तत्त्वज्ञानविषयकभ्रान्तिसे रहित होकर सम्यग्दर्शनका लाभ करते हैं—सम्यग्दृष्टि होते हैं।

भावार्थ—इस पद्यके द्वारा शास्त्रज्ञानका फल—सम्यक्त्वका लाभ मुख्यरूपसे बताया ही गया है। साथमें सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका लाभ भी सूचित किया है; क्योंकि एक तो सम्यग्दर्शनके होनेपर सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र भी यथोचितरूपमें होते ही हैं। दूसरे, शास्त्रज्ञानसे अज्ञाननिवृत्ति और विषयोंमें संवेग तथा निर्वेदभाव पैदा होता है। अतः जो भव्यजीव इस 'अध्यात्मकमलमार्तण्ड' को पढ़ते-पढ़ाते और सुनते-सुनाते हैं वे नियमसे रत्नत्रयका लाभ करते हैं और अन्तमें केवलज्ञानको प्राप्त करके मोक्षको पाते हैं।

ग्रन्थकारका अन्तिम निवेदन—

अर्थाश्चाद्यवसानवर्जितनवाः सिद्धाः स्वयं मानत—
स्तल्लक्ष्मप्रतिपादकाश्च शब्दा निष्पन्नरूपाः किल।
भो ? विज्ञाः ? परमार्थतः कृतिरियं शब्दार्थयोश्च स्वतो
नव्यं काव्यमिदं कृतं न विदुषा तद्राजमल्लेन हि॥ २०॥

इति श्रीमदध्यात्मकमलमार्तण्डाभिधाने शास्त्रे सप्त-तत्त्व-नव-पदार्थ-प्रतिपादकश्चतुर्थः परिच्छेदः।

इति अध्यात्मकमलमार्तण्डः समाप्तः।

अर्थ—पदार्थ अनादि और अनन्त हैं और वे स्वयं प्रमाणसे सिद्ध हैं। उनके स्वरूप-प्रतिपादक शब्द भी स्वयं निष्पन्न हैं—सिद्ध हैं। हे बुधवरो! वस्तुतः यह ग्रन्थ शब्द और अर्थकी ही

कृति—रचना है, मुझ पण्डित राजमल्लने स्वयं यह कोई नया काव्य नहीं रचा—नूतन रचना नहीं की।

भावार्थ—श्रीमत्पण्डित राजमल्लजी ग्रन्थ पूर्ण करते हुए कहते हैं कि यह 'अध्यात्म-कमल-मार्तण्ड' नामक शास्त्र शब्द और अर्थ की रचना है और यह शब्द अर्थ अनादि तथा अनन्त हैं—स्वयं सिद्ध हैं—अर्थात् पहिले से ही मौजूद थे। अतः मैंने कोई नई रचना नहीं की—मैं उनका संयोजकमात्र हूँ*। इस प्रकार अपनी लघुता प्रकट करते हैं और इतना गंभीर महान् ग्रन्थ रचकर भी अपनी निरभिमानतावृत्ति को सूचित करते हैं। इतिशम्।

इस प्रकार श्री 'अध्यात्मकमलमार्तंड' नामक शास्त्रमें सप्त-तत्त्व और नव-पदार्थोंका वर्णन करनेवाला चौथा परिच्छेद पूर्ण हुआ।

इस तरह हिन्दीभाषानुवादसहित अध्यात्मकमलमार्तण्ड सम्पूर्ण हुआ।

*इसी भावको श्रीमदमृतचन्द्राचार्यने, जो प्रस्तुत ग्रन्थ-रचयिताके पूर्ववर्ती हैं, अपने तत्त्वार्थसारकी समाप्तिके अन्तमें निम्न प्रकार प्रकट किया है:—

वर्णाः पदानां कर्त्तारो वाक्यानां तु पदावलिः।
वाक्यानि चास्य शास्त्रस्य कर्तॄणि न पुनर्वयम्॥

परिशिष्ट

[पृष्ठ ३४, पंक्ति १० के आगेका क्रम-प्राप्त निम्न पद्य और उसका अनुवाद छपनेसे रह गया है । अतः उसे यहाँ दिया जाता है ।]

व्ययका स्वरूप—

सति कारणे यथास्वं द्रव्यावस्थान्तरे हि सति नियमात् ।
पूर्वावस्थाविगमो विगमश्चेतीह लक्षितो न सतः ॥ १८ ॥

अर्थ—यथायोग्य (बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग) कारणोंके होने और द्रव्यकी उत्तर अवस्थाके उत्पाद होनेपर नियमसे पूर्व अवस्थाका नाश होना विगम—अर्थात् व्यय कहा गया है । सत् (द्रव्य) का व्यय नहीं होता ।

भावार्थ—जिस प्रकार तुरी, बेमादि पटकारणोंके होनेपर और पटके उत्पन्न होनेपर जो तन्तुरूप अवस्थाका विनाश होता है वह उसका विगम कहलाता है उसी प्रकार उपादान और निमित्त कारणोंके मिलनेपर द्रव्यकी उत्तर अवस्थाके उत्पाद-पूर्वक पूर्व अवस्थाका त्याग होना विगम है ।

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६	६	क्षायोयशमिक	क्षायोपशमिक
२२	१७	बन्धान्तर्गतपुण्यं	बन्धान्तर्गतं पुण्यं
२७	४	विशष्ट	विशिष्ट
२८	११	ह्यानित्या-	ह्यनित्या-
३३	५	ध्रौयात्मक	ध्रौव्यात्मक
३७	५	अभिनाभाव	अविनाभाव
४२	१२	तादाम्य	तादात्म्य
६१	३	सूक्ष	सूक्ष्म

अध्यात्मकमलमार्तण्डकी पद्यानुक्रमणी